शताब्दी-संस्करण

# वेदविरुद्धमतखण्डनम्

( भीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितम् )

पृष्ठ ७७१—८

## वेदविरुद्धमतखण्डनम्

—:o:—

| आवृत्ति | | सन् ई० | | संख्या |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | ... | | ... | १००० |
| द्वितीय | ... | १८८७ | ... | १००० |
| तृतीय | ... | १८९७ | ... | १००० |
| चतुर्थ | ... | १९०५ | ... | १००० |
| पंचम | ... | १९१० | ... | १००० |
| षष्ठ | ... | १९१७ | ... | १००० |
| शताब्दीसंस्करण | | १९२४ | ... | १०,००० |
| | | | | १६,००० |

# पुस्तक-सूची

# चित्र-सूची



* महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की जन्मशताब्दी के पूर्व के स्वर्गवासी सभासद्

शताब्दीसंस्करण



# चित्र-सूची

१-महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती
[illegible]
श्रीमती परोपकारिणीसभा के [illegible]

२-(१) श्रीमान् हिज़ हाइनेस महाराजाधिराज [illegible] बहादुर गायकवाड़, बड़ोदा
(२) श्री राजाधिराज सर नाहरसिंहजी बहादुर, शाहपुरा
(३) रायबहादुर श्री मूलराजजी, लाहौर
(४) रायसाहब श्री हरविलासजी सारडा, M.L.A., अजमेर

३-(१) श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी, दिल्ली
(२) श्रीयुत लाला हंसराजजी, लाहौर
(३) श्रीयुत पं० गुरुदत्त[illegible] लाहौर
(४) श्रीयुत रायसाहेब डा० [illegible], अजमेर
(५) श्रीयुत बाबू गंगाप्रसादजी [illegible] टेहरी
(६) श्रीयुत लाला [illegible] लाहौर

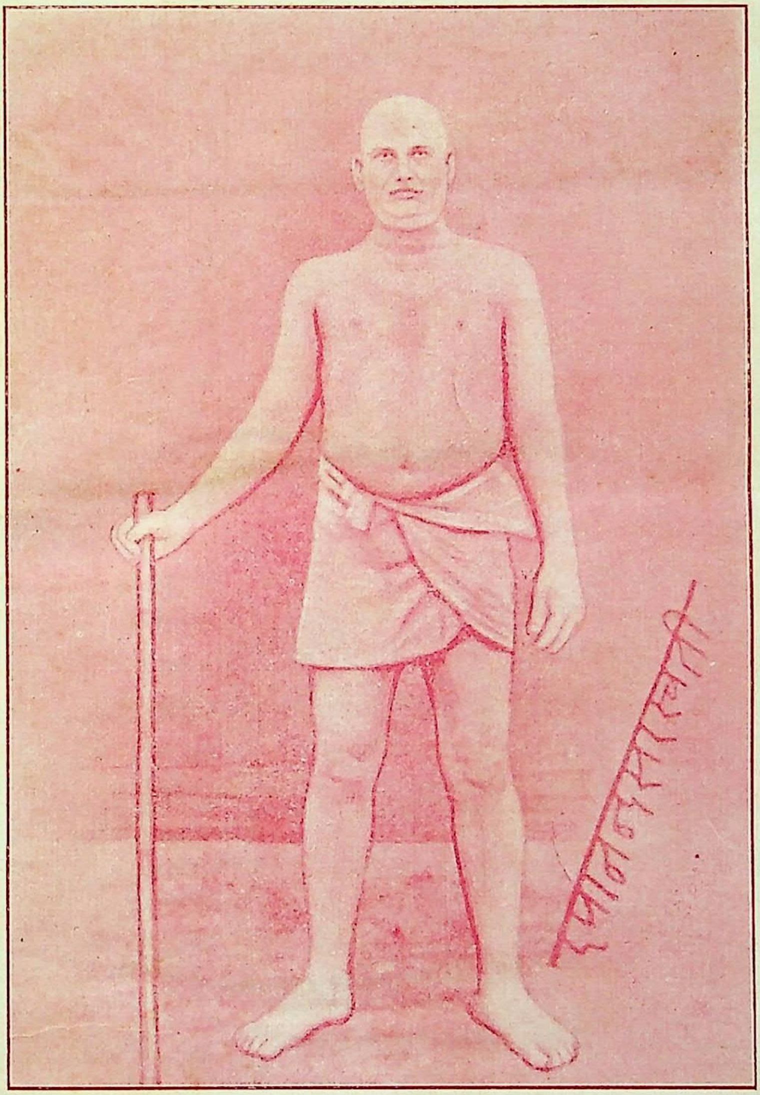
४-(१) श्रीमान् महाराजा [illegible]
(२) श्रीमान् [illegible]
(३) [illegible] महाराज, [illegible]
(४) [illegible]
(५) [illegible]
(६) [illegible]

५-(१) श्रीयुत [illegible]

(२) श्रीयुत [illegible]
(३) श्रीयुत [illegible] बम्बई
(४) [illegible]
(५) श्रीयुत पं० [illegible] लाहौर
(६) श्रीयुत [illegible]
(७) श्रीयुत [illegible] लाहौर
(८) श्रीयुत [illegible]
[illegible]

* [illegible]

शताब्दीसंस्करण ॐ



वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.

शताब्दी-संस्करण

# संस्कारविधिः

पृष्ठ १—२५८.

# संस्कारविधिः

—:o:—

| आवृत्ति | | सन् ई० | | संख्या |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | ... | १८७७ | ... | १००० |
| द्वितीय | ... | १८८४ | ... | ३००० |
| तृतीय | ... | १८९१ | ... | ५००० |
| चतुर्थ | ... | १८९९ | ... | ५००० |
| पंचम | ... | १९०३ | ... | ५००० |
| षष्ठ | ... | १९०६ | ... | ५००० |
| सप्तम | ... | १९०८ | ... | ५००० |
| अष्टम | ... | १९११ | ... | ५००० |
| नवम | ... | १९१३ | ... | ६००० |
| दशम | ... | १९१५ | ... | ६००० |
| एकादश | ... | १९१८ | ... | ६००० |
| द्वादश | ... | १९२१ | ... | १०,००० |
| शताब्दीसंस्करण | | १९२४ | ... | १०,००० |
| | | | | ७२,००० |

* ओ३म् *

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

# अथ संस्कारविधेर्भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३० शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था। उसमें संस्कृतपाठ एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर २ होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० (एक हज़ार) पुस्तक छपे थे उनमें से अब एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिये विचार किया। अब की वार जिस २ संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण वचन और प्रयोजन है वह २ संस्कार के पूर्व लिखा जायगा, तत्पश्चात् जो २ संस्कार में कर्तव्य विधि है उस २ को क्रम से लिख कर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिये वह लिखा है। और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की वार जो २ अत्यन्त उपयोगी विषय है वह २ अधिक भी लिखा है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था और युक्त छूट गया था उसका संशोधन किया है, किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी इसलिये अब सुगम कर दिया

है क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे साधारण नहीं । इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्यकर्म करे । और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा, जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारम्बार न लिखना पड़ेगा । इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ तदनन्तर सामान्यप्रकरण पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है इसलिये विशेष कर क्रिया विधान लिखा है । और जहां २ अर्थ करना आवश्यक है वहां २ अर्थ भी कर दिया है । और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें । यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है ॥

इति भूमिका

स्वामी दयानन्दसरस्वती.

॥ ओ३म् ॥

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

# अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । अष्टमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥ १ ॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥ २ ॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥ ३ ॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥ ४ ॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥ ६ ॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥ ७ ॥

बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥ ८ ॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥ ९ ॥
चक्षुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥ १० ॥
बिन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥ ११ ॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगा के करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें ॥

## अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ १ ॥ यजु० अ० ३० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे ( सवितः ) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त ( देव ) शुद्धस्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके ( नः ) हमारे ( विश्वानि ) सम्पूर्ण ( दुरितानि ) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को ( परा, सुव ) दूर कर दीजिये ( यत् ) जो ( भद्रम् ) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है ( तत् ) वह सब हम को ( आ, सुव ) प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
यजु० अ० १३ । मं० ४ ॥

अर्थः—जो ( हिरण्यगर्भः ) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने-हारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो ( भूतस्य ) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का ( जातः ) प्रसिद्ध ( पतिः ) स्वामी ( एकः ) एक ही चेतनस्वरूप ( आसीत् ) था जो ( अग्रे ) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व ( समवर्त्तत ) वर्तमान था ( सः ) सो ( इमाम् ) इस ( पृथिवीम् ) भूमि (उत) और ( द्याम् ) सूर्यादि को ( दाधार ) धारण कर रहा है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप ( देवाय ) शुद्ध परमात्मा के लिये ( हविषा ) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से ( विधेम ) विशेष भक्ति किया करें ॥ २ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
य० अ० २५ । मं० १३ ॥

अर्थः—( यः ) जो ( आत्मदाः ) आत्मज्ञान का दाता ( बलदाः ) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा ( यस्य ) जिसकी ( विश्वे ) सब ( देवाः ) विद्वान् लोग ( उपासते ) उपासना करते हैं और ( यस्य ) जिसका ( प्रशिषम् ) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं ( यस्य ) जिसका ( छाया ) आश्रय ही ( अमृतम् ) मोक्षसुखदायक है (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही ( मृत्युः ) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है हम लोग उस ( कस्मै ) सुखस्वरूप ( देवाय ) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये ( हविषा ) आत्मा और अन्तःकरण से ( विधेम ) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥ ३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यजु० अ० २३ । मं० ३ ॥

अर्थः—( यः ) जो ( प्राणतः ) प्राणवाले और ( निमिषतः ) अप्राणिरूप ( जगतः ) जगत् का ( महित्वा ) अपने अनन्त महिमा से ( एक, इत ) एक

ही ( राजा ) विराजमान राजा (बभूव) है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और ( चतुष्पदः ) गौ आदि प्राणियों के शरीर की ( ईशे ) रचना करता है हम उस ( कस्मै ) सुखस्वरूप ( देवाय ) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये ( हविषा ) अपनी सकल उत्तम सामग्री से ( विधेम ) विशेष भक्ति करें ॥ ४ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥
य० अ० ३२ । मं० ६ ॥

अर्थः—( येन ) जिस परमात्मा ने ( उग्रा ) तीक्ष्ण स्वभाववाले ( द्यौः ) सूर्य आदि ( च ) और ( पृथिवी ) भूमि को ( दृढा ) धारण ( येन ) जिस जगदीश्वर ने ( स्वः ) सुख को ( स्तभितम् ) धारण और ( येन ) जिस ईश्वर ने ( नाकः ) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है ( यः ) जो ( अन्तरिक्षे ) आकाश में ( रजसः ) सब लोकलोकान्तरों को ( विमानः ) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है हम लोग उस ( कस्मै ) सुखदायक ( देवाय ) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये ( हविषा ) सब सामर्थ्य से ( विधेम ) विशेष भक्ति करें ॥ ५ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥
ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

अर्थः—हे ( प्रजापते ) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा ( त्वत् ) आप से ( अन्यः ) भिन्न दूसरा कोई ( ता ) उन ( एतानि ) इन ( विश्वा ) सब ( जातानि ) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को ( न ) नहीं ( परि, बभूव ) तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं ( यत्कामाः ) जिस २ पदार्थ की कामना वाले हम लोग ( ते ) आपका ( जुहुमः ) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत्)

उस २ की कामना ( नः ) हमारी सिद्ध ( अस्तु ) होवे जिससे ( वयम् ) हम लोग ( रयीणाम् ) धनैश्वर्यों के ( पतयः ) स्वामी ( स्याम ) होवें ॥ ६ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७ ॥
यजु० अ० ३२ । मं० १० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ( सः ) वह परमात्मा ( नः ) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक ( जनिता ) सकल जगत् का उत्पादक ( सः ) वह ( विधाता ) सब कामों का पूर्ण करनेहारा ( विश्वा ) संपूर्ण ( भुवनानि ) लोक-मात्र और ( धामानि ) नाम, स्थान जन्मों को ( वेद ) जानता है और ( यत्र ) जिस ( तृतीये ) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त ( धामन् ) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में ( अमृतम् ) मोक्ष को ( आनशानाः ) प्राप्त होके ( देवाः ) विद्वान् लोग ( अध्यैरयन्त ) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ ८ ॥
यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

अर्थः—हे ( अग्ने ) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करनेहारे ( देव ) सकल सुखदाता परमेश्वर आप जिससे ( विद्वान् ) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके ( अस्मान् ) हम लोगों को ( राये ) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये ( सुपथा ) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से ( विश्वानि ) संपूर्ण ( वयुनानि ) प्रज्ञान और उत्तम कर्म ( नय ) प्राप्त कराइये और ( अस्मत् ) हम से ( जुहुराणम् ) कुटिलतायुक्त ( एनः ) पापरूप कर्म को ( युयोधि ) दूर कीजिये इस कारण हम लोग ( ते ) आपकी ( भूयिष्ठाम् ) बहुत प्रकार की

स्तुतिरूप ( नम उक्तिम् ) नम्रतापूर्वक प्रशंसा ( विधेम ) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्

## अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २ ॥ ऋग्वेद मं० १ । सू० १ । मं० १ । ९ ॥ स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः । स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ३ ॥ स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ ४ ॥ विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये । देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥ ५ ॥ स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥ ६ ॥ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥ ७ ॥ ऋ० मण्ड० ५ । सू० ५१ ॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ७ । अ० ३ । सू० ३५ ॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः । उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥ ९ ॥ नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः । ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ १० ॥ सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् । ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो

आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥ ११ ॥ को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन । को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ १२ ॥ येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त-होतृभिः । त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १३ ॥ य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः । ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १४ ॥ भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेंऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् । अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ १५ ॥ सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १६ ॥ विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः । सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥ १७ ॥ अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः । आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १८ ॥ अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि । यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ १९ ॥ यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने । प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥ २० ॥ स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्ववति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ २१ ॥ स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपाः ॥ २२ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ६३ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ २३ ॥ यजु० अ० १ । मं० १ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ २४ ॥ देवानां

भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम् । देवानांꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ २५ ॥ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ २६ ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २७ ॥ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २८॥ यजु० अ० २५ । मं० १४ । १५ । १८ । १९ । २१ ॥

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ २९ ॥ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥३०॥ सा० छन्द आ० प्रपा० १ । मंत्र १ । २ ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥ अथर्व० कां० १ । अनु० १ । सू० १ । मं० १ ॥

इति स्वस्तिवाचनम्

## अथ शान्तिप्रकरणम्

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥ शन्नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः । शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥ शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शन्न उरूची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥ शन्नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणावश्विना शम् । शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभिवातु वातः ॥ ४ ॥ शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये

नो अस्तु । शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥ शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः । शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥ शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः । शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥ शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥ शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः । शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः ॥ ११ ॥ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥ शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ १३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १–१३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १४ ॥ शन्नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १५ ॥ अहानि शं भवन्तु नः शꣳ रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रा वरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ १६ ॥ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंय्योरभि स्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः

स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १६ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० ८ । १० । ११ १२ । १७ । २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २० ॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २१ ॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २२ ॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २३ ॥ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २४ ॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २५ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० १–६ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ साम० उत्तरार्चिके० प्रपा० १ । मं० १ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ २ ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोयः । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ २८ ॥ अथर्व० कां० १६ । सू० १७ । मं० ५ । ६ ॥

इति शान्तिप्रकरणम् *

* इस स्वस्तिवाचन और शांतिप्रकरण को सर्वत्र जहां जहां प्रतीक धरें वहां वहां करना होगा ।

## अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करना चाहिये । परन्तु जहां कहीं विशेष होगा वहां सूचना करदी जायगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना और इतना अधिक करना स्थान २ में जना दिया जायगा ॥

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र अर्थात् जहां स्थल, वायु शुद्ध हो किसी प्रकार का उपद्रव न हो ॥

यज्ञशाल—इसी को यज्ञमण्डप भी कहते हैं यह अधिक से अधिक १६ (सोलह) हाथ सम-चौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ (आठ) हाथ की हो यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी दो २ हाथ खोद अशुद्ध निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें यदि १६ (सोलह) हाथ की समचौरस हो तो चारों ओर २० (बीस) खम्भे और जो ८ (आठ) हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० (दश) हाथ ऊंची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम हलदी मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें । मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल-कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें । इसलिये निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें ॥

## यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार २ हाथ का चारों ओर सम-चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में १ (एक) हाथ चौकोण लम्बा चौड़ा रहै । इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहिरा चौड़ा कुण्ड बनाना परन्तु अधिक आहुतियों में दो २ हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और सम-

चौरस कुण्ड बनाना और जो पचास हज़ार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहिरा चौड़ा सम-चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हज़ार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे, दश हज़ार आहुति तक इतना ही अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे रखना, पांच हज़ार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहिरा सम-चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है, यदि इसमें २५०० (ढाई हज़ार) आहुति मोहनभोग खीर और २५०० (ढाई हज़ार) घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा गहिरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खे, चाहे घृत की हज़ार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहिरा सम-चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे और इन कुण्डों में १५ (पन्द्रह) अंगुल की मेखला अर्थात् पांच २ अंगुल की ऊंची ३ (तीन) बनावे। और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी प्रथम पांच अंगुल ऊंची और पांच अंगुल चौड़ी इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें॥

## यज्ञसमिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, विल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।

## होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि (द्वितीय—पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि (तीसरे—मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि (चौथे—रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियां॥

## स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे। इसका प्रमाणः—

ओ३म् देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण वसोः पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध करलेना अवश्य चाहिये अर्थात् सब को यथावत् शोध, छान, देख, भाल सुधार कर करें इन द्रव्यों को यथायोग्य मिला के पाक करना। जैसे कि सेर भर मिश्री के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल, जावित्री, सेर भर मीठा सब डाल कर, मोहनभोग बनाना इसी प्रकार अन्य–मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें। चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने की विधि ( ओं अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि ) अर्थात् जितनी आहुति देनी हों प्रत्येक आहुति के लिये चार २ मूठी चावल आदि ले के ( ओं अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ) अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे। जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें और उस पर घृत सेचन करें ॥

## यज्ञपात्र

विशेष कर चांदी अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहियें निम्नलिखित प्रमाणेः—

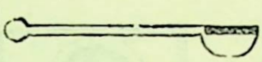
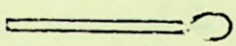
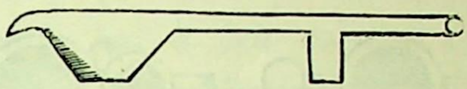
### अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः। षडङ्गुलखातास्त्वग्बिलाहंसमुख-प्रसेकाः। मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति। तत्र पालाशी जुहूः। आ-श्वत्थ्युपभृत्। वैकङ्कती ध्रुवा। अग्निहोत्रहवणी च। अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः। अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः। तथाविधो द्वितीयो वैकङ्क ः स्रुवः। वारणं

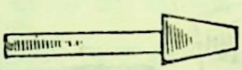
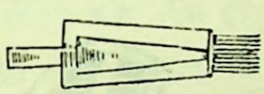
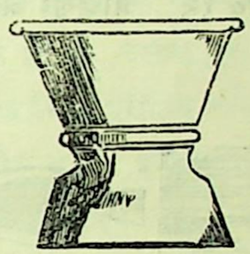
बाहुमात्रं मकराकारमग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम् । अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम् । वारणान्यहोमसंयुक्तानि । तत्रोलूखलं नाभिमात्रम् । मुसलं शिरोमात्रम् । अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः । तथा—खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः । यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ ॥ शूर्पं वैणवमेव वा । ऐशीकं नलमयं वाऽचर्मवद्धम् । प्रादेशमात्री वारणी शम्या । कृष्णाजिनमखण्डम् । दृषदुपले अश्ममये । वारणीं २४ हस्तमात्रीं २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् । अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि । मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् । प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ । प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहन्तीक्ष्णाग्रं श्रितावदानम् । आदर्शाकारे चतुरस्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम् । षडङ्गुलकङ्कतिकाकारमुभयतः खातं षडवदात्तम् । द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् । उपवेशोऽरत्निमात्रः । मुञ्जमयी रज्जुः । खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् । यजमानपूर्णपात्रं पत्नीपूर्णपात्रं च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातम् । तथा प्रणीतापात्रञ्च । आज्यस्थाली द्वादशाङ्गुलविस्तृता प्रादेशोच्चा । तथैव चरुस्थाली । अन्वाहार्यपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तं समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयं कौशं बर्हिः । ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि । पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् । अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः । द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः । षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येऽष्टौ धेनवः । वरार्थं चतस्रो गावः ॥

समिध पलाश की १८ हस्त ३ इध्म परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र समीक्षण लेर ५ शाठी १ दृशदुपल १ दीर्घ अङ्गुल १२ पृ० १५ उपल अ० ६ नेतु व्यास हाथ ४ त्रिवृत्तृण वा गोवाल का ॥

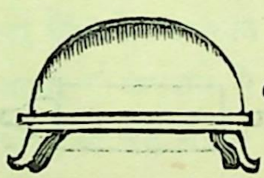
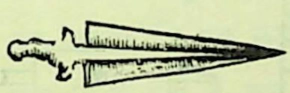
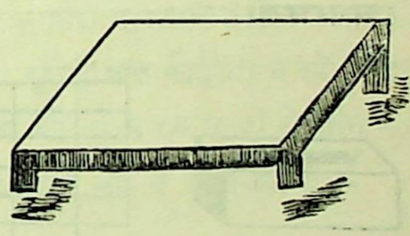
स्रुवः ४ अंगुल २४ शम्याप्रादेश १ स्रुच् सर्व ४ बाहुमात्र

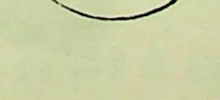
श्रृतावदान प्रादेशमात्र कूर्च बाहुमात्र १ उलूखल नाभिमात्र मुसल

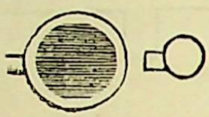

अन्तर्धान १ अं० १२ खांडा अंगुल २४ पाटला ४ लम्बा २४ अंगुल

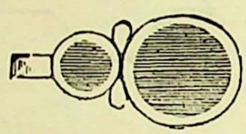
उपवेश १ अं० २४ पूर्णपात्र अं० १२ चौड़ा अंगुल ६ अभ्रि० १ अं० २४

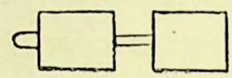

प्राशित्रहरणे दर्पणाकार



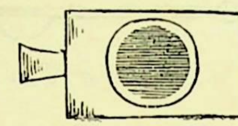
पिष्टपात्री



षड्वत अंगुल १२



पुरोडाशपात्री



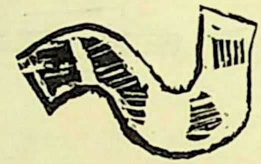
प्रणीता अं० १२



प्रोक्षणी अं० १२



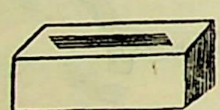
अंगोछा २४ अंगुल लम्बा



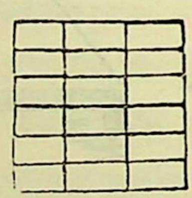
अरणी ४



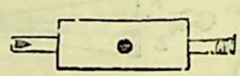
अंगुल ६ पोली
अंगुल ४ ऊंची
अधरारणी



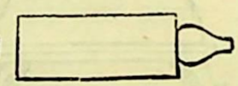
उत्तरारणी टुकड़ा १८



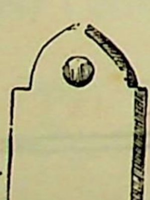
ओवली अं० १२



चात्र अं० १२



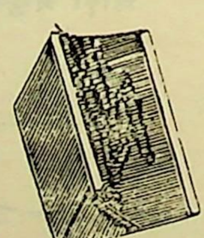
मूलेखात दृषद्



उपल



शूर्प



इड़ा अंगुल १२



## अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद' इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करे। ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि' ऐसा कह के जो उसके लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे, यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे' ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि'। ऋत्विजों का लक्षण—अच्छे विद्वान् धार्मिक जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित कुलीन सुशील वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो तीन अथवा चार का वरण करें, जो एक हो तो उसका पुरोहित और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित और तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इनका आसन वेदी के चारों ओर अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठ के उत्तराभिमुख रहे और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना और ये प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें और अपने २ जलपात्र से सब जने जोकि यज्ञ करने को बैठे हों वे इन मन्त्रों से तीन २ आचमन करें अर्थात् एक २ से एक २ वार आचमन करें वे मन्त्र यह हैं:—

**ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥** इससे एक,
**ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥** इससे दूसरा,
**ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥** तैत्तरी० प्र० १० । अनु० ३२–३५ ॥

इससे तीसरा आचमन करके तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें—

**ओं वाङ्म ऽआस्येऽस्तु ॥** इस मन्त्र से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओं ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और—

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥ पारस्कर गृ० कण्डिका ३ । सू० २५ ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना, पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥ गोभिल गृ० प्र० १ । खं० १ । सू० ११ ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा किसी एक पात्र में धर उस में छोटी २ लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे वह मन्त्र यह है:—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ १ ॥
यजु० अ० ३ । मं० ५ ॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे २ काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे ।

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथा मयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥
यजु० अ० १५ । मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ २ अंगुल की घृत में डुबा उनमें से एक २ नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं:—

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ २ ॥ इससे और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्न मम ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे-इदन्न मम ॥ ४ ॥ यजु० अ० ३। मं० १। २। ३ ॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठपात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रक्खा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम ६ मासा भर अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे यही आहुति का प्रमाण है। उस घृत में से चमसा, कि जिस में छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी ॥

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्न मम ॥ १ ॥

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि चारों ओर छिड़कावे उसके ये मन्त्र हैं:—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व,
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम,
ओ सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इससे उत्तर और
गोभिल गृ० प्र० खं० ३ । सू० १–३ ॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ यजु० अ० ३० । मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे इस के पश्चात् सामान्य होमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती है उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है उसका नाम "आघारावाज्याहुति" कहते हैं और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं उनको "आज्यभागाहुति" कहते हैं सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥
इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में,

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय–इदन्न मम ॥
गो० गृ० प्र० १ । खं० ८ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी, तत्पश्चात्

**ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥**

**ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥**

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी उसके पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके जब प्रधान होम अर्थात् जिस २ कर्म में जितना २ होम करना हो, करके पश्चात् पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार ( आघा-रावाज्यभागा० ) देवें पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भर के प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें ॥

**ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥**

**ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥**

**ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय–इदन्न मम ॥**

**ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमाग्निवाय्वादित्येभ्यः–इदन्न मम ॥**

ये चार घी की आहुति देकर स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है यह घृत अथवा भात की देनी चाहिये उस का मन्त्रः—

**ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्वि-द्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहु-तीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्ट-कृते–इदन्न मम ॥ शतपथ कं० १४ । ६ । ४ । २४ ॥**

इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति करे नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये ॥

**ओं ापतये ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥**

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवे परन्तु जो नीचे लिखी आहुति चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं वे चार मंत्र ये हैं:—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्ज्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ६६ । मं० १९ । २० । २१ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

इनसे घृत की चार आहुति करके "अष्टाज्याहुति" ये निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गलकार्यों में ८ ( आठ ) आहुति देवें परन्तु किस २ संस्कार में कहां २ देनी चाहियें यह विशेष बात उस २ संस्कार में लिखेंगे वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं ॥

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं स त्वन्नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्याम्–इदन्न मम ॥ २ ॥ ऋ० मं० ४ । सू० १ । मं० ४ । ५ ॥

ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९ ॥

ओं तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान॒स्तदा शा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भिः॑ । अहे॑ळमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शंस॒ मा न॒ आयु॑ः प्र मो॑षीः॒ स्वाहा॑ ॥ इदं वरुणाय–इदन्न मम ॥ ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० ११ ॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः ॥ तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि । अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे–इदन्न मम ॥ ६ ॥ कात्या० २५—११ ॥ ओं उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय । अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम॒ स्वाहा॑ ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च–इदन्न मम ॥ ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० १५ ॥

ओं भव॑तन्नः॒ सम॑नसौ॒ सचे॑तसावरे॒पसौ॑ । मा य॒ज्ञꣳ हिꣳसिष्टं॒ मा य॒ज्ञप॑तिं जातवेदसौ शि॒वौ भ॑वतम॒द्य नः॒ स्वाहा॑ ॥ इदं जातवेदोभ्याम्–इदन्न मम ॥ यजु० अ० ५ । मं० ३ ॥

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे, न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है करे यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मंदमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करे और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे स्रुवा को घृत से भर के–

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवे ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके जिसको दक्षिणा देनी हो देवे वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदा कर स्त्री पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें ॥

## मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें वे मन्त्र ये हैं ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा । । कया
शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यामदानां मंहिष्ठो मत्स-
दन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । अभीषुणः सखी-
नामविता जरितृणाम् । शतम्भवास्यूतये ॥ ३ ॥ महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या ।
नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् । ऊ । ती सदावृधः सखा । औ३ होहाई । कया२३
शचाई । ष्ठयौहो३ हुम्मा २ । वा२र्तो३ऽ५हाइ ॥ ( १ ) ॥ काऽ५स्त्वा ।
सत्यो३मा२३दानाम्३ । मं । हिष्ठोमात्सादन्धः । सा । औ३होहाइ । दृढा२३
चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३सो२३ऽ५हायि ॥ ( २ ) आऽ५भी ।
षुणा३ः सा३खीनाम् । आ । विता जरायितृ । णाम् । औ२३ हो हायि ।
शता२३ म्भवा । सियौहो३ । हुम्मा २ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ ( ३ ) ॥
साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ । मं० १ । २ । ३ ॥

यह वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्त्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों उनको भी सत्कारपूर्वक विदा करदें अथवा जो संस्कार क्रिया को देखना चाहें वे पृथक् २ मौन करके बैठे रहें कोई बात चीत हल्ला गुल्ला न करने पावें सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें ॥ यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है ॥

इति सामान्यप्रकरणम्

# अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
मनुस्मृति द्वितीयाध्याये श्लोक १६ ॥

अर्थः—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं उनमें से प्रथम गर्भाधान संस्कार है ॥

गर्भाधान उसको कहते हैं कि जो "गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्" गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिससे होता है । जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं वैसे उत्तम बलवान् स्त्री पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं । इससे पूर्णयुवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ ( सोलह ) वर्ष की कन्या और २५ ( पच्चीस ) वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ ( पच्चीस ) वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता, इसमें यह प्रमाण है ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ॥
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥
सुश्रुते सूत्रस्थाने । अध्याय ३५ ॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ १ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ३ ॥
सुश्रुते शारीरस्थाने अ० १० ॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं शरीर की उन्नति वा अवनति की विधि जैसी वैद्यक शास्त्र में है वैसी अन्यत्र नहीं जो उसका मूल विधान है आगे वेदारम्भ में लिखा जायगा अर्थात् किस २ वर्ष में कौन २ धातु किस २ प्रकार का कच्चा वा पक्का वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है यह सब वैद्यक शास्त्र में विधान है इसलिये गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये अब देखिये सुश्रुतकार परमवैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे यह लिखते हैं जितना सामर्थ्य २५ ( पच्चीसवें ) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना ही सामर्थ्य १६ ( सोलहवें ) वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है इसलिये वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ॥ १ ॥ सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ ( पच्चीस ) वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ॥ २ ॥ और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों इसलिये अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये ॥

**चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥**

अर्थः—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि

और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्णपुष्टि और उससे आगे किंचित् २ धातु वीर्य की हानि होती है अर्थात् ४० ( चालीसवें ) वर्ष सब अवयव पूर्ण होजाते हैं पुनः खानपान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है वह कुछ २ क्षीण होने लगता है इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ ( सोलह ) वर्ष की और पुरुष २५ ( पच्चीस ) वर्ष का अवश्य होना चाहिये मध्यम समय कन्या का २० ( बीस ) वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० ( चालीसवां ) वर्ष और उत्तम समय कन्या का चौबीस वर्ष और पुरुष का अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है जो अपने कुल की उत्तमता उत्तम सन्तान दीर्घायु सुशील बुद्धि बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें वे १६ ( सोलहवें ) वर्ष से पूर्व कन्या और २५ ( पच्चीसवें ) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें यही सब सुधार का सुधार सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रख के अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें ॥

## ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ १ ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ २ ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ३ ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥ ४ ॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ५ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ६ ॥
मनुस्मृतौ अ० ३ ॥

अर्थः–मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पूर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के ( सोलह ) दिनों में पौर्णमासी अमावास्या चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवें इनमें स्त्री पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥ १ ॥ स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ ( सोलह ) रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ ( सोलहवें ) दिन तक ऋतु समय है उन में प्रथम की चार रात्री अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से ले चार दिन निन्दित हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे न वह स्त्री कुछ काम करे किन्तु एकान्त में बैठी रहै क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है । रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर जैसा कि फोड़े में से पीप वा रुधिर निकलता है वैसा है ॥ २ ॥ और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है और बाक़ी रहीं दश रात्रि सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥ जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें परन्तु इनमें भी उत्तर २ श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पांचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें * इससे पुत्रार्थी युग्म

* रात्रिगणना इसलिये की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है ॥

रात्रियों में ऋतुदान देवे ॥ ४ ॥ पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिरजाना होता है ॥ ५ ॥ जो पूर्व निन्दित ८ ( आठ ) रात्रि कह आये हैं उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥ ६ ॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापन विधि लिखा है वैसा करना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ ( सोलहवें ) और २५ ( पच्चीसवें ) वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है वही उपनिषद् से भी विधान है ॥

**अथ गर्भाधानᳬं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वᳬं स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा "आदित्यं गर्भमिति" ॥**

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है, ऐसा ही गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी विधान है इसके अनन्तर जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रजरोग रहित हो उसी दिन ( आदित्यं गर्भमिति ) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो उससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी यहां पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और पति वेदी से पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे और ऋत्विज् भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें ॥

**ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां**

प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः–इदन्न मम ॥ ५ ॥ मन्त्र ब्राह्मण प्र० १ । खं० ४ । मं० ५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्य्याय–इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्य्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्य्येभ्यः–इदन्न मम ॥ १० ॥ पारस्कर कां० ११ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अजपहि स्वाहा ॥

इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १८ ॥ ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १९ ॥ ओं अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ २० ॥

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी *। और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रख के उसमें घी दूध और शक्कर मिला के कुछ थोड़ी देर रख के जब घृत आदि भात में एकरस होजाय पश्चात् नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ आहुति अग्नि में देवें और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे।

ओं अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अग्नये पावकाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं अग्नये शुचये स्वाहा ॥ इदमग्नये शुचये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आदित्यै

* इन बीस आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ॥

स्वाहा ॥ इदमादित्यै-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते-इदन्न मम ॥ ६ ॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त २४-२५ पृष्ठ लिखित आठ मंत्रों से अष्टाज्याहुति देनी उन ८ ( आठ ) मन्त्रों से ८ ( आठ ) तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥ १ ॥ गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥ २ ॥ हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८४ ॥

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥ ४ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७६ ॥ यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० ११ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ६ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ७ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ८ ॥ यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे स्वाहा ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति दे के नीचे लिखे मन्त्रों से भी चार घृताहुति देवे ॥

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भुववार्यवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः–इदन्न मम ॥ ४ ॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी ॥

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० २ ॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे "ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं०" इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवे जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गये हों जब आहुति हो चुकें तब उस आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नान के घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे तब दोनों वधू वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य्य का दर्शन करें, उस समय—

ओं आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्ग्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ १ ॥ यजु० अ० १३ । मं० ४१ ॥ सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ २ ॥ जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति । पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ ३ ॥ चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ४ ॥ चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।

तं चेदं वि चं पश्येम ॥ ५ ॥ सुसंदृशं त्वा वयं प्रतिपश्येम सूर्य । विपश्येम नृचक्षसः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १५८ । मं० १—५ ॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके बधू—

**ओं (अमुक(१)गोत्रा शुभदा, अमुक(२)दा अहं भो भवन्तमभिवादयामि)॥**

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे इस प्रमाणे बधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् बधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात् दोनों पति पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठ के वामदेव्यगान करें तत्पश्चात् यथोक्त ( ३ ) भोजन

( १ ) इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे ॥

( २ ) इस ठिकाने बधू अपना नाम उच्चारण करे ॥

( ३ ) उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त बधू वर के आहार पर
निर्भर है इसलिये पति पत्नी अपने शरीर आत्मा की पुष्टि के लिये बल और
बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें ॥ सर्वौषधि ये हैं—दो खण्ड
आंवाहलदी, दूसरी खाने की हल्दी "चन्दन" मुरा ( यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध
है ), कुष्ठ, जटामांसी, मोरबेल ( यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है ), शिलाजीत,
कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ इन सब ओषधियां का चूर्ण करके सब सम-भाग लेके
उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदु-
म्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उसमें से मक्खन निकाल उसको
ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जा-
वित्री मिला के अर्थात् सेर भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधी मिला सिद्ध
कर घी हुए पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और
एक २ मासा जायफलादि भी मिला के नित्य प्रातःकाल उस घी में से २२-२३ पृष्ठ
में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और पृष्ठ ३४ में लिखे हुए
( विष्णुर्यो.नि० ) इत्यादि ७ ( सात ) मंत्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण

दोनों जने करें और पुरोहितादि सब मण्डली का सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कार पूर्वक सब को विदा करें ॥

इस के पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी, गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्री के गये पश्चात् प्रहर रात्री रहे तक है जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्न वदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रक्खें। वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे यदि शीतकाल हो तो प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची

---

करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो उसके दिन में होम करके उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिला के यथारुचि भोजन करें इस प्रकार गर्भ स्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे, यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे क्योंकि–"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

यह छान्दोग्य का वचन है अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्यमांसादि रहित घृत दुग्धादि चावल गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि बल पुरुषार्थ आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है इसलिये पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें जब रजस्वला होने समय में १२–१३ दिन शेष रहें तब शुक्लपक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिला के इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें और मिताहारी होकर ऋतु समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवें, जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है ॥

डाल गर्म कर रक्खे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक् २ शयन करें यदि स्त्री-पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय होजाय कि गर्भ स्थिर होगया, तो उसके दूसरे दिन और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय, स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थिर हो गया है । अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्न-लिखित मन्त्रों से आहुति देवें * ॥

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति । एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥ २ ॥ दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि । निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ५ । सू० ७८ । मं० ७ । ८ । ९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति । एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥ १ ॥ यस्यै ते

---

* यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायँ अर्थात् दो वार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल होजाय, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीस के दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे "किं पिवसि" इस प्रकार तीन वार पूछे और स्त्री भी अपने पति को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन वार बोल के उत्तर देवे और उसका प्राशन करे, इसी रीति से पुनः पुनः तीन वार विधि करना तत्पश्चात् सङ्खाहूली व भटकटाई औषधि को जल में महीन पीस के उस का रस कपड़े में छान के पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करे और पति—

ओ३म् यमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती ।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मंत्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे, यह सूत्रकार का मत है ॥

य॒ज्ञियो॒ गर्भो॒ यस्यै॒ योनि॑र्हिर॒ण्ययी॑ । अङ्गा॒न्यह्रु॑ता॒ यस्य॒ तं मा॒त्रा सम॑जीगम॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ २ ॥ यजु० अ० ८ । मं० २८ । २९ ॥

पुमा॑ꣳसौ मि॒त्रावरु॑णौ पुमा॑ꣳसाव॒श्विना॑वु॒भौ । पुमा॑न॒ग्निश्च॑ वा॒युश्च॒ पुमा॒न् गर्भ॒स्तवो॒दरे॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥ पुमा॑न॒ग्निः पुमा॒निन्द्रः॒ पुमा॒न्देवो॒ बृह॒स्पतिः॑ । पुमा॑ꣳसं पु॒त्रं वि॑न्दस्व॒ तं पुमा॒ननु॑ जायतां॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥ मन्त्रब्राह्मण ब्रा० १ । ४ । ८-९ ॥

इन मन्त्रों से आहुति देकर व लिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति देके पुनः २५ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवे पुनः स्त्री के भोजन छादन का सुनियम करे। कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट, दधि, गेहूं, उर्द, मूंग, तूअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें उसमें ऋतु २ के मसाले गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और सरदी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें। युक्ताहारविहार सदा किया करें। दधि में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे जिससे सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

इति गर्भाधानविधिः समाप्तः

# अथ पुंसवनम्

पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे ॥

## अत्र प्रमाणानि

पुमाᳬंसौ मित्रावरुणौ पुमाᳬंसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ॥ १ ॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाᳬंसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम् ॥ २ ॥
मं० ब्रा० १ । ४ । ८–९ ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनुषिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधादिह ॥ ३ ॥
अथर्व० कां० ६ । अनु० २ । सू० ११ ॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाणः—

**अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥ १ ॥**

**प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥ २ ॥**

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री को दक्षिण नासापुट से सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी औषधि खिलावे ऐसा ही पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण है ॥

**अथ पुंसवनं पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ १ ॥ पारस्कर कां० १ । कं० १४ ॥**

इसके अनन्तर, पुंसवन उसको कहते हैं जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवनसंस्कार किया जाता है इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में लिखा है ॥

## अथ क्रियारम्भः

पृष्ठ ४ से १२ वें पृष्ठ के शान्तिप्रकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ८ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ १० में लिखे प्रमाणे शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा यज्ञकुण्ड, पृष्ठ १४–१५ में यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और पाकस्थाली आदि करके और पृष्ठ २१–२३ में लिखे प्रमाणे (अयन्त इध्म०) इत्यादि (ओं अदिते०) इत्यादि ४ (चार) मन्त्रोक्त कर्म और आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) तथा व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २३ में (ओं प्रजापतये स्वाहा) ॥१॥ पृष्ठ २३

में ( ओं यदस्य कर्मणो० ) ॥ २ ॥ लिखे प्रमाणे २ ( दो ) आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से दो आहुति घृत की देवे—

ओं आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान्बाण इवेषुधिम् । आवीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० २३ ॥ ओं अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ २ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १० ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धर के यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ । मन्येहं मां तद्विद्वांसमाह पौत्रमघन्नियाम् ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १० ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान गा के जो २ पुरुष वा स्त्री संस्कार समय पर आये हों उनको विदा करदे पुनः वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट कपड़े में छान, गार्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे । तत्पश्चात्ः—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ य० अ० १३ । मं० ४ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० १७ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के पति अपनी गार्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धर के यह मन्त्र बोलेः—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम

आत्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ १ ॥ य० अ० १२ । मं० ४ ॥

इसके पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहारविहार करे विशेष कर गिलोय ब्राह्मी ओषधि और शुंठी को दूध के साथ थोड़ी २ खाया करे और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक, हरड़ें आदि न खावे सूक्ष्म आहार करे । क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फँसे, चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे इत्यादि शुभाचरण करे ॥

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः



# अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन कहते हैं जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इसमें आगे प्रमाण लिखते हैं॥

**चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्॥ १॥ आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्॥ २॥ अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा॥** यह आश्वलायनगृह्यसूत्र॥

**पुंसवनवत्प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा॥**

यह पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण—इस प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है॥

गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे और पुंसवन संस्कार के तुल्य छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें इसमें प्रथम ४—२६ पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

**ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु स्वाहा॥ १॥ य० अ० ११। मं० ७॥**

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल सेचन करके आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) मिल के ८ (आठ) आहुति पृष्ठ २२—२३ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् चावल, तिल, मूंग इन तीनों को सम भाग ले के—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धो के इनकी खिचड़ी बना, उसमें पुष्कल घी डाल के निम्नलिखित मन्त्रों से ८ ( आठ ) आहुति देवें ॥

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवतः स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ७ । सू० १७ ॥ ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान । धाता कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ३ ॥ यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा ॥ इदं राकायै-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ । मं० ४ । ५ ॥ नेजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत । अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमाधेहि यः पुमान्स्वाहा ॥ ५ ॥ यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे । एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥ ६ ॥ विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् । पुमांसं पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥

इन सात मन्त्रों से खिचड़ी की सात आहुति देके पुनः ( प्रजापते नत्व० ) पृष्ठ २४ में लिखित इससे एक, सब मिला के ८ ( आठ ) आहुति देवे और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ( ओं प्रजापतये० ) मन्त्र से एक भात की और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ( ओं यदस्य कर्मणो० ) मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवे । तत्पश्चात् "ओं त्वन्नो अग्ने०" पृष्ठ २४–२५ में लिखे प्रमाणे ८ ( आठ ) घृत की आहुति और "ओं भूरग्नये" पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४

( चार ) व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जा के उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात् पृष्ठ की ओर बैठ—

**ओं सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ यजु० अ० ६ । मं० २२ ॥**

**मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम् । कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ २ ॥ य० अ० ७ । मं० २४ ॥ ओं अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव । पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयताꣳ रयिः ॥ ३ ॥ ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय । तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥ ४ ॥ मन्त्रब्राह्मण । ब्रा० १ । ५ । १–२ ॥ ओं राकामहꣳसुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु । उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा ॥५॥ ओं किंपत्रत्मना सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायुमुख्यम् ॥ ६ ॥**

**ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा । अद्य सुमनाश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥ ७ ॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ ॥**

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तैल डाल कंघे से सुधार हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें—उस समय वीणा आदि बाजे बजवावे, तत्पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें, पश्चात्—

**ओं सोमएव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः । अविमुक्त चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यं असौ * ॥ पारस्कर कां० १ । कं० १५ ॥**

* यहां किसी नदी का नामोच्चारण करे ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डाल के गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिविम्ब उस घी में देखे उस समय पति स्त्री से पूछे "किं पश्यसि" स्त्री उत्तर देवे "प्रजां पश्यामि" तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध समीप बैठी हुईं उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें ।

**ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥**

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें ॥

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इसका समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें ॥

**सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥ पा० कां० १ । कं० १६ ॥**

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है ॥

जब प्रसव होने का समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

**ओं एजंतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथा यं वायुरेजति यथा समुद्र एजति । एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ य० अ० ८ । मं० २८ ॥**

इससे मार्जन करने के पश्चात्ः—

**ओं अवैतु पृश्निशेवलꣳशुभे जराय्वत्तवे । नैव मांसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥**

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

**कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत् ॥**

जब पुत्र का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवे पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो वहां बैठ के एक बीता भर नाड़ी को छोड़

ऊपर सूत से बांध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा शुद्ध वस्त्र से पूंछ नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्व लिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ २०–२१ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रख के हाथ पग धोके एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित * के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में रक्खे उस पर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा उस पर उपवस्त्र ओढ़ के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रख के पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोलेः—

**ओम् आ वसोः सदने सीद ॥** तत्पश्चात् पुरोहितः—

**ओं सीदामि ॥**

बोल के आसन पर बैठ के पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "अयन्त इध्म०" ३ मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात्ः—

**ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम् । सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै-इदन्न मम ॥ ओं विपश्चित्पुच्छमभरत्तद्धाता पुनराहरत् । परे हि त्वं विपश्चित्पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे-इदन्न मम ॥ मन्त्रब्राह्मण १ । ५ । ६ । ७ ॥**

इन दोनों मन्त्रों से दो आज्याहुति करके पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्य गान करके ४–८ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करे तत्पश्चात् घी

* धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा विद्वान् सद्धर्मी कुलीन निर्व्यसनी सुशील वेदप्रिय पूजनीय सर्वोपरि गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है ।

और मधु दोनों बराबर मिला के जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उससे बालक की जीभ पर—

"ओ३म्"

यह अक्षर लिख के उसके दक्षिण कान में "वेदोसीति" तेरा गुप्त नाम वेद है ऐसा सुना के पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा २ चटावे:—

**ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् । आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ १ ॥ मेधां ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । ६ ॥ ओं भूस्त्वयि दधामि ॥ ३ ॥ ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥ ४ ॥ ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥ ५ ॥ ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥ ६ ॥ पार० कां० १ । कं० १६ ॥ ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषᳬस्वाहा ॥ ७ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १८ ॥**

इन प्रत्येक मन्त्रों से सात वार घृत मधु प्राशन कराके तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस वस्त्र से छान एक पात्र में रख के हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ासा लेके:—

**ओ३म् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ।**

इस मन्त्र को बोल के बालक के मुख में एक विन्दु छोड़ देवे यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है सब का नहीं । पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्नलिखित मन्त्र बोले:—

**ओं मेधान्ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती । मेधान्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ १ ॥ ओं अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि ॥ २ ॥ ओं सोमऽआयुष्मान् स ओषधीभिरायु-**

ष्माँस्तेन * ॥ ३ ॥ ओं ब्रह्मऽआयुष्मत् तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन० ॥ ४ ॥ ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥ ५ ॥ ओं ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ६ ॥ ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥ ७ ॥ ओं यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥ ८ ॥ ओं समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ ९ ॥ पा० कां० १ । कं० १६ ॥

इन नव मन्त्रों का जप करे इसी प्रकार बायें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझा न पड़े धर के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे । पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥ १ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ ॥ अ॒स्मे प्र य॑न्धि मघवन्नृजीषि॒न्निन्द्र॑ रा॒यो वि॒श्ववा॑रस्य भूरे॑ः । अ॒स्मे श॒तं श॒रदो॑ जी॒वसे॑ धा अ॒स्मे वी॒राञ्छश्व॑त इन्द्र शिप्रिन् ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ ॥ ओं अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १८ ॥

इन तीन मन्त्रों को बोले तत्पश्चात्ः—

त्र्यायु॒षं ज॒मद॑ग्नेः क॒श्यप॑स्य त्र्यायु॒षम् । यद्दे॒वेषु॑ त्र्यायु॒षं तन्नो॑ अस्तु त्र्यायु॒षम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे तत्पश्चात् बालक के स्कन्धा पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुवा हो वहां जा के:—

ओं वेद ते भूमिहृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतम् ॥ १ ॥ पार० कां० ७ । कं० १६ ॥

* यहां पूर्व मन्त्र का शेष ( त्वा० ) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

इस मन्त्र का जप करे तथाः—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ २ ॥ यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतस्येह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ ३ ॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापती । यथायन्न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ४ ॥ यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०–१३ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे॥

कोसि कतमोस्येषोस्यमृतोसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ ६ ॥ स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रे त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥ ७ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४–१५ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के बालक को आशीर्वाद देवे । पुनः–

अङ्गादङ्गात्सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे । प्राणन्ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥ अङ्गादङ्गात्संभवासि हृदयादधिजायसे । वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । आत्मासि पुत्र माम्रृथाः सजीव शरदः शतम् ॥ १० ॥ पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १६–१९ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे इसी प्रकार जब परदेश से आवे वा जावे तब २ भी इस क्रिया को करे जिससे पुत्र और पिता माता में अति प्रेम बढ़े ॥

ओं इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः । सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतोऽकरत् ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १९ ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछ के:—

**ओं इमꣳस्तनमूर्ज्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने शरीरस्य मध्ये । उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥१॥ यजु० अ० १७।८७॥**

इस मन्त्र को पढ़ के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे इसके पश्चात्:—

**ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि । यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥ ऋ० १ । सू० १६४ । मं० ४९ ॥**

इस मन्त्र को पढ़ के वाम स्तन बालक के मुख में देवे तत्पश्चात्:—

**ओं आपो देवेषु जागृथ यथा देवेषु जागृथ । एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जागृथ ॥ १ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥**

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भर के दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत स्थान में दश दिन तक रहे वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिला के दश दिन तक बराबर आहुतियां देवे ॥

**ओं शण्डामर्काउपवीरः शौण्डिकेयऽउलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदं शण्डामर्काउपवीराय, शौण्डिकेयायोलूखलाय, मलिम्लुचो द्रोणसश्च्यवनोनश्यतादितेभ्यश्च—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं आलिखन्ननिमिषः किं वदन्त उपश्रुतिः । हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदमालिखन्ननिमिषाय किंवद्भ्य उपश्रुतहर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ पारस्कर० कां० १ । कं० १६ ॥**

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे २ विद्वान् धार्मिक वैदिक मत वाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित हो के करें ॥

मा नो॑ हासिषुर्ऋष॑यो दैव्या॒ ये त॑नू॒पा ये न॑स्त॒न्व॑स्तनू॒जाः । अम॑र्त्या॒ मर्त्याँ॑ अ॒भि नः॑ सचध्व॒मायु॑र्धत्त प्रत॒रं जी॒वसे॑ नः ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० ४ । सू० ४१ ॥ इ॒दं जी॒वेभ्यः॑ परि॒धिं द॑धामि॒ मैषां॒ नु गा॒दप॑रो॒ अर्थ॑मे॒तम् । श॒तं जीव॑न्तः श॒रदः॑ पुरू॒चीस्ति॒रो मृ॒त्युं द॑धतां॒ पर्व॑तेन ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १२ । अ० २ । मं० २३ ॥ वि॒वस्वा॑न्नो॒ अभ॑यं कृणोतु॒ यः सु॒त्रामा॑ जी॒रदा॑नुः सु॒दानुः॑ इ॒हम वी॒रा ब॒हवो भवन्तु॒ गोम॒दश्व॑व॒न्मय्य॑स्तु पु॒ष्टम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । मं० ६१ ॥

इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ

# नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम् । नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥ घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥ चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥ द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥ युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥ ५ ॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥ ६ ॥ अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोपनयनात् ॥ ७ ॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ।

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितमयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है:—

नामकरण अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे । नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में वा १०१ (एकसौ एक) में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें । पुनः पृष्ठ ४—२६ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण और सामान्यप्रकरणस्थ संपूर्ण विधि करके आघाराऽऽज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४-२५ में लिखे प्रमाणे (त्वन्नो अग्ने०) इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ (आठ) आहुति अर्थात् सब मिला के १६ घृताहुति करें । तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा शुद्ध वस्त्र पहिनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से

आ दक्षिण भाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा म रख के बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिये कर्त्तव्य हो उस प्रथम प्रधान होम को करे! पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे उसमें से प्रथम घी का चमसा भर के—

**( ओं प्रजापतये स्वाहा )**

इस मन्त्र से १ आहुति देकर पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ ( चार ) आहुति देनी अर्थात् एक तिथि दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से अर्थात् तिथि नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल के ४ ( चार ) घी की आहुति देवे, जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तोः—

**ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओं अश्विन्यै स्वाहा। ओं अश्विभ्यां स्वाहा** * ॥ गोभि० प्र० २। खं० ८। सू० ६–१२॥

---

* **तिथिदेवताः**—१ ब्रह्मन्। २-त्वष्टृ। ३-विष्णु। ४-यम। ५-सोम। ६-कुमार।७-मुनि।८-वसु।९-शिव।१०-धर्म।११-रुद्र।१२-वायु।१३-काम। १४-अनन्त।१५-विश्वेदेव।३०-पितर॥

**नक्षत्रदेवताः**—अश्विनी-अश्वी भरणी-यम। कृत्तिका-अग्नि। रोहिणी-प्रजापति। मृगशीर्ष-सोम। आर्द्रा-रुद्र। पुनर्वसु-अदिति। पुष्य-बृहस्पति। अश्लेषा-सर्प। मघा-पितृ। पूर्वाफल्गुनी-भग। उत्तराफल्गुनी-अर्यमन्। हस्त-सवितृ। चित्रा-त्वष्टृ। स्वाति-वायु। विशाखा-चन्द्राग्नी। अनुराधा-मित्र। ज्येष्ठा-इन्द्र। मूल-निर्ऋति। पूर्वाषाढा-अप्। उत्तराषाढा-विश्वेदेव। श्रवण-विष्णु। धनिष्ठा-वसु। शतभिषज्-वरुण। पूर्वाभाद्रपदा-अजपाद। उत्तराभाद्रपदा-अहिर्बुध्न्य। रेवती-पूषन्॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखी हुई स्विष्टकृत मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ ( चार ) व्याहृति आहुति दोनों मिल के ५ आहुति देके तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

**कोऽसि कत॒मोऽसि॒ कस्या॑सि॒ को ना॒मा॑सि । यस्य॑ ते॒ नामाम॑न्महि॒ यं त्वा॒ सोमे॒नाती॑तृपाम । भूर्भुव॒ः स्व॒ः सुप्र॒जाः प्र॒जाभि॑ः स्या॑ᳲ सु॒वीरो॑ वी॒रैः सु॒पोष॒ः पोषै॑ः ॥ यजु० अ० ७ । मं० २९ ॥**

**ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि । आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १४ ॥**

जो यह "असौ" पद है इसके पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो २ अक्षर छोड़ के तीसरा, चौथा, पांचवां और य, र, ल, व, ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें * । जैसे देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो देवशर्मा क्षत्रिय हो तो देववर्मा वैश्य हो तो देव-

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, ये स्पर्श और य, र, ल, व, ये चार अन्तःस्थ और हर एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें और स्वरों में से कोई भी स्वर हो जैसे ( भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः ) इत्यादि पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे अन्त्य में दीर्घस्वर और तद्धितान्त भी होवे, जैसे ( श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रीडा ) इत्यादि परन्तु स्त्रियों के इस प्रकार के नाम कभी न रक्खें उसमें प्रमाण ( नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ) ॥ १ ॥ मनुस्मृतौ । ( ऋक्ष ) रोहिणी, रेवती इत्यादि, ( वृक्ष ) चम्पा, तुलसी इत्यादि, ( नदी ) गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादि, ( अन्त्य ) चांडाली इत्यादि, ( पर्वत ) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि, ( पक्षी ) कोकिला, हंसा इत्यादि, ( अहि ) सर्पिणी, नागी इत्यादि, ( प्रेष्य ) दासी, किंकरी इत्यादि, ( भयंकर ) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं ॥

गुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि और जो स्त्री हो तो एक तीन वा पांच अक्षर का नाम रक्खे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि नामों को प्रसिद्ध बोल के पुनः "असौ" पद के स्थान में बालक का नाम धर के पुनः "ओं कोसि०" ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

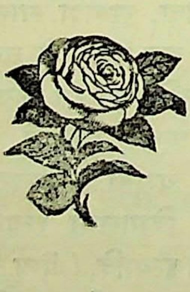
**ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १५ ॥**

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवे, इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुना के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करे तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे और सब लोग जाते समय पृष्ठ ४–८ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः"

हे बालक ! तू आयुष्मान् विद्यावान् धर्मात्मा यशस्वी पुरुषार्थी प्रतापी परोपकारी श्रीमान् हो ॥

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः



# अथ

# निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

निष्क्रमण संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायु-स्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें इसमें प्रमाणः—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ॥

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

यह पारस्करगृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—निष्क्रमण संस्कार के काल के दो भेद हैं एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में यह संस्कार करे।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर पति के सामने आकर बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रख के पति के हाथ में देवे पुनः पति के पछि की ओर घूम के वायें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख खड़ी रहै—

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥ १ ॥ ओं यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याह नाममाहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥ २ ॥ ओं इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं

प्रजापती । यथा यन्न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १०–१२ ॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४–२६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण आदि सामान्यप्रकरणोक्त समस्त विधि कर और पुत्र को देख के इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करेः–

ओं अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १ ॥ ओं प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ २ ॥ गवां त्वा हिंकारेणावजिघ्रामि । सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ पार० कां० १ । कं० १८ ॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपेः–

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३६ । मं० १० ॥

इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं॑ दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे । पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥ २ ॥ ऋ० मं० २ । सू० २१ । मं० ६ ॥

इस मन्त्र को वाम कान में जप के पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोलेः–

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के थोड़ासा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ला सब लोगः—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।

इस वचन को बोल के आशीर्वाद देवें तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रह के—

ओं यददश्चन्द्रमासि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ५ । १२ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सन्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पिछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहै और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर ( ओं यददश्च० ) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें ॥

इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

अन्नप्राशन संस्कार तभी करे जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

**षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥ २ ॥ दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥**

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है ॥

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे जिसको तेजस्वी बालक करना हो वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिला के निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४—२६ में कहे हुए संपूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो उसी दिन यह संस्कार करे और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे ॥

**ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। ओं अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोत्राय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥**

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना जब अच्छे प्रकार पक जावें तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

**ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि। ओम् अपानाय त्वा०। ओं चक्षुषे त्वा०। ओं श्रोताय त्वा०। ओं अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥ ५ ॥**

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक् २ देके पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और व्याहृति आहुति ४

( चार ) मिल के ८ ( आठ ) घृत की आहुति देके पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे ॥

**देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्ज्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहा ॥ इदं वाचे—इदन्न मम ॥ १ ॥ ऋ० मं० ८ । सू० १०० ॥ वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा । इदं वाचे वाजाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० ३३ ॥**

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डाल के—

**ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अपानेन गन्धानमशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ पार० कां० १ । कं० १६ ॥**

इन मन्त्रों से चार आहुति देके ( ओं यदस्य कर्मणो० ) पृष्ठ २३ में लि० स्विष्टकृत् आहुति एक देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और पृष्ठ २४—२५ में लिखे ( ओं त्वन्नो० ) इत्यादि से ८ ( आठ ) आज्याहुति मिल के १२ ( बारह ) आहुति देवे । उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उसमें घी यथायोग्य किंचित् २ मिला के और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिला के बालक के रुचि प्रमाणे—

**ओं अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्रप्रदातारं तारिष ऊर्ज्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ १ ॥ य० अ० ११ । मं० ८३ ॥**

इस मन्त्र को पढ़ के थोड़ा २ पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे यथारुचि खिला बालक का मुख धो और अपने हाथ धो के पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके जो बालक के माता पिता और अन्य वृद्ध स्त्री पुरुष आये हों वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः ।

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें ॥

इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ चूड़ाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवां संस्कार चूड़ाकर्म है जिस को केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है:—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥ १ ॥ उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति ॥ २ ॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है ॥

सांवत्सरिकस्य चूड़ाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है, यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मङ्गल हो उस दिन यह संस्कार करे। विधिः—

आरम्भ में पृष्ठ ४–२६ में लिखित विधि करके चार शरावे ले एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भर के वेदी के उत्तर में धर देवे, धर के पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं अदितेऽनुमन्यस्व०" इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे "ओं देव सवितः प्रसुव०" इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पूर्व पृष्ठ २०–२१ में लिखित अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) और पृष्ठ २४–२५ में लि० आठ आज्याहुति सब मिल के सोलह (१६) आहुति देके पृष्ठ २४ में लिखे प्रमाणे "ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०" इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ और स्विष्टकृदग्नि मन्त्र से एक आहुति मिल के पांच घृत

की आहुति देवे, इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देख केः—

**ओं आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥**

इस मन्त्र का जप करके पिता बालक के पृष्ठभाग में बैठ के किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्ढा जल दोनों पात्रों में लेके "उष्णेन वाय उदकेनैधि । पार० कां० २ । कं० १ ।" इस मन्त्र को बोल के दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला देवे पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई ले के—

**ओं अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु सचेतसः । चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥**

**ओं सवित्रा प्रसूता दैव्य आप उन्दन्तु । ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥ २ ॥ पारस्कर० कां० २ । कं० १ ॥**

इन मन्त्रों को बोल के बालक के शिर के बालों में तीन वार हाथ फेर के केशों को भिगोवे तत्पश्चात् कंघा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे अर्थात् बिखर न रहें तत्पश्चात् "ओं ओषधे त्रायस्व एनꣳ मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४ । मं० १ ॥" इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के "ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोसि ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ४ ॥" इस मन्त्र से छुरे की ओर देख के—

**ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ य० अ० ३ । मं० ६३ ॥**

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे तत्पश्चात्—

**ओं स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः ॥ य० अ० ४ । मं० १ ॥**

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ य० अ० ३ । मं० ६३ ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप लेजाके—

ओं येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोल के कुशासहित उन केशों को काटे * और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्र सहित अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहियें उन सब को लड़के का पिता और लड़के की मा एक शरावा में रक्खे और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो उसको गोबर से उठा के शरावा में अथवा उसके पास रक्खे तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह दूसरी ओर का काट के उसी प्रकार शरावा में रक्खे तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्च रात्र्यं ज्योक् च पश्याति सूर्यम् । तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काट के उपरि उक्त तीन मन्त्रों अर्थात् "ओं येनावपत्०" "ओं येन धाता०" "ओं येन भूयश्च०" और—

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़ के बीच में से केशों को छुरे से काटे यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है ॥

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय ॥

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोल के चौथी वार इसी प्रकार केशों के समूहों को काटे अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बाईं ओर के केश काटने का विधि करे तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे परन्तु चौथी वार काटने में "येन पूषा०" इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरादिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

यह मन्त्र बोल के छेदन करे, तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ य० अ० ३। मं० ६२ ॥

इस एक मन्त्र को बोल के शिर के पीछे के केश एक वार काट के इसी (ओं त्र्यायुषं०) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेर के मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपासि केशश्मश्रु शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ अथर्व० कां० ८। सू० २। मं० १७ ॥

इस मन्त्र को बोल के नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके नापित से बालक का पिता कहे कि इस शितोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिजो सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे इतनी कह के कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को लेजा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठाके जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे परन्तु पांचों ओर थोड़ा २ केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे अथवा एक वार सब कटवा देवे पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं जब

क्षौर हो चुके तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को देवे और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे और नाई, केश दर्भ शमीपत्र और गोबर को जंगल में लेजा गढ़ा खोद के उसमें सब डाल ऊपर से मट्टी से दाब देवे अथवा गोशाला नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे अथवा किसी को साथ भेज देवे वह उससे उक्त प्रकार करा लेवे । क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा बालक के शिर पर लगा के स्नान करा उत्तम वस्त्र पहिना के बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में सामवेद का महावामदेव्यगान करके बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद दे के अपने २ घर को पधारें और बालक के माता पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रक्खें ॥

इति चूड़ाकर्म्मसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥ १ ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है। बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण करा के बालक की माता यज्ञशाला में लावे पृष्ठ ४–२६ तक में लिखा हुआ सब विधि करे और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धर के—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ ऋ० मं० १। सू० ८९॥

इस मन्त्र को पढ़ के चरक, सुश्रुत वैद्यक ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान और—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियंसखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयंसमने पारयन्ती॥ ऋ० मं० ६। सू० ७५॥

इस मन्त्र को पढ़ के दूसरे वामकर्ण का वेध करे तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिससे छिद्र पूर न जावें और ऐसी ओषधि उस पर लगावे जिससे कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे होजावें॥

इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथोपनयन*संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थः—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे ८ ( आठवें ) वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें, तथा ब्राह्मण के १६ ( सोलह ) क्षत्रिय के २२ ( बाईस ) और वैश्य के बालक का २४ ( चौबीस ) से पूर्व २ यज्ञोपवीत चाहिये यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें ॥

श्लोकः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें, परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे, उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्र समर्थ

* उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना व होना ॥

बढ़नेवाले होते हैं जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें—

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य और—

**वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् । ग्रीष्मे राजन्यम् । शरदि वैश्यम् । सर्वकालमेके ।।**

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

अर्थः—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें अथवा सब ऋतुओंमें उपनयन हो सकता है और इसका प्रातः-काल ही समय है ।।

**पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः ।।**

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एकवार वा अनेकवार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का ( यवागू ) अर्थात् यव को मोटा दल के गुड़ के साथ पतली जैसी कि कढ़ी होती है वैसी बना कर पिलावें और ( आमिक्षा ) अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं वैसी जो दही चौगुना दूध एकगुना तथा यथायोग्य खांड केशर डाल के कपड़े में छानकर बनाया जाता है उसको वैश्य का लड़का पी के व्रत करे अर्थात् जब जब लड़कों को भूख लगे तब २ तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीयें ।।

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे और उस दिन पृष्ठ ४—२६ वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को

मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ १९ में लि० ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने २ आसन पर बैठ यथावत् आचमनादि क्रिया करें ॥

पश्चात् कार्य्यकर्त्ता बालक के मुख से:—

**ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

ये वचन बुलवा के *आचार्य्यः—

**ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् । तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० २ ॥**

इस मन्त्र को बोल के बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक आचार्य्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

**ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ १ ॥ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥ २ ॥ पार० कां० २ ॥**

इन मन्त्रों को बोल के आचार्य्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठा के ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण का पाठ करके समिदाधान, अग्न्याधान कर ( ओं अदितेऽनुमन्यस्व० ) इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ॥

---

* आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धी और क्रिया का जाननेहारा छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे ॥

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और व्याहृति आहुति ४ ( चार ) तथा पृष्ठ २३–२४ में आज्याहुति ८ तीनों मिल के १६ ( सोलह ) घृत की आहुति देके पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम जो विशेष शाकल्य बनाया हो उस की आहुतियां निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी, ( ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि० ) पृष्ठ २४ में ४ ( चार ) आज्याहुति देवे । तत्पश्चात्–

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं वायो व्रतपते० * स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये इदन्न मम ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । ९–१३ ॥

इन पांच मन्त्रों से पांच आज्याहुति दिलानी उसके पीछे पृष्ठ २३ में० व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और स्विष्टकृत आहुति १ ( एक ) और प्राजापत्याहुति १ ( एक ) ये सब मिल के छः घृत की आहुति देनी, सब मिल के १५ ( पन्द्रह ) आहुति बालक के हाथ से दिलानी उसके पश्चात् आचार्य्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे तत्पश्चात् आचार्य्य बालक की ओर देख के:—

ओं आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन । अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १४ ॥

इस मन्त्र का जप करे ॥

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व" । मं० ब्रा० १ । ६ । १६ ॥

* इस के आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिये ॥

आचार्योक्तिः "को * नामासि" ॥

बालकोक्तिः "एतन्नामास्मि" † ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १ ॥ तत्पश्चात्

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥
ऋ० मं० १० । सू० ६ ॥

इन तीन मन्त्रों को पढ़ के वटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी तत्पश्चात् आचार्य्य अपनी हस्ताञ्जलि भर के:—

ओं तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं तुरं॒ भग॑स्य धीमहि ॥ १ ॥
ऋ० मं० ५ । सू० ८२ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़ के बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़ के:—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ ‡ ॥ १ ॥ य० अ० ५ । मं० २६ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना इसी प्रकार दूसरी वार अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भर के अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़ के:—

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥ १ ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर पुनः बालक की अञ्जलि में भर अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़:—

* तेरा नाम क्या है ऐसा पूछना ॥ † मेरा यह नाम है ॥

‡ असौ इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिये ॥

ओं अग्निराचार्यस्तव, असौ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । १५ ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वा के बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देख के आचार्यः—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी ते गोपाय समामृत ॥ १ ॥

इस एक और पृष्ठ ६० में लि० ( तच्चक्षुर्देवहितम् ) इस दूसरे मन्त्र को पढ़ के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालकसहित आचार्य सभामण्डप में आ यज्ञकुण्ड की उत्तर बाजू की ओर बैठ के:—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः । ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, * असौ ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥

इस मन्त्र को पढ़े और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके:—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २० ॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओं अहुर इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र से उदर पर और:—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से हृदयः—

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ ॥ ४ ॥

* "असौ" और "अमुं" इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ॥

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध और:—

**ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥ ५ ॥ मं० ब्रा० १ । ६ । २१–२४ ॥**

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से बाएं स्कन्धा पर स्पर्श करके बालक के हृदय पर हाथ धरके:—

**ओं तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३॒॑ मन॑सा दे॒वयन्त॑ः ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ ॥**

इस मन्त्र को बोल के आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके:—

**ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले अर्थात् हे शिष्य ! बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहै और तूं मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे । यह प्रतिज्ञा करावे इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहै आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—

**को नामाऽसि ॥** तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—**अहम्भोः ॥**

मेरा अमुक नाम ऐसा उत्तर देवे । आचार्यः—

**कस्य ब्रह्मचार्य्यसि** ॥ तू किसका ब्रह्मचारी है । बालकः—

**भवतः** ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥ आपका ।

आचार्य्य बालक की रक्षा के लियेः—

**इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव * असौ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात्—

**ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥ १ ॥ ओं प्रजापतये त्वा परिददामि । देवाय त्वा सवित्रे परिददामि । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि । द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

इन मन्त्रों को बोल, बालक को शिक्षा करे कि प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो ॥

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए । पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २६ में लि० महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे और माता पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलकेः—

**ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्**
**तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः ।**

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने २ घर को सिधारें ॥

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः

* असौ इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ।

# अथ
# वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

वेदारम्भ उसको कहते हैं जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग * चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना ॥

समयः—जो दिन उपनयन संस्कार का है वही वेदारम्भ का है यदि उस दिवस में न होसके अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे ॥

विधिः—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके शुद्ध वस्त्र पहिना. पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४—१२ तक में ईश्वरस्तुति †, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करके पृष्ठ २० में ( भूर्भुवः स्वः० ) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृष्ठ २१ में ( ओं अयन्त इध्म० ) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ २२ में ( ओं अदितेनुमन्यस्व० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और ( ओं देव सवितः० ) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के पृष्ठ २० में ( उद्बुध्यस्वाग्ने० ) इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके प्रदीप्त समिधा

---

* ( अङ्ग ) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष्। ( उपाङ्ग ) पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त। ( उपवेद ) आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। ( ब्राह्मण ) ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। ( वेद ) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े ॥

† जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना और शान्तिप्रकरण करना आवश्यक नहीं॥

पर पृष्ठ २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और पृष्ठ २४–२५ में आज्याहुति आठ मिलके १६ ( सोलह ) आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान * होमाहुति दिला के पश्चात् पृष्ठ २३ में व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और स्विष्टकृत् आहुति १ ( एक ) प्राजापत्याहुति १ ( एक ) मिलकर छः आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी तत्पश्चात्—

**ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु । ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि । ओं एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि । ओं एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ कं० ४ ॥**

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "आदितेनुमन्यस्व०" इत्यादि ४ ( चार ) मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सिञ्चन करके बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर घृत में भिजो के एक समिधा हाथ में ले—

**ओं अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳस्वाहा ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥**

समिधा वेदिस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े पुनः "ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०" इस मन्त्र से वेदिस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २२ में लि० प्र० "ओं अदितेनुमन्यस्व०" इत्यादि चार मन्त्र से कुण्ड के सब ओर जल सेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ के वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ासा तपा के हाथ में जल लगाः—

* प्रधान होम उसको कहते हैं जो संस्कार मुख्य करके किया जाता है ।

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥ १ ॥ ओं आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि ॥ २ ॥ ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥ ३ ॥ ओं अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण ॥ ४ ॥ ओं मेधां मे देवः सविता आ दधातु ॥ ५ ॥ ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥ ६ ॥ ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ ७ ॥ पार० कां० २ । कं० ४ ॥

जल स्पर्श कर के इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर मुखस्पर्श करना तत्पश्चात् बालक—

ओं वाङ् म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार,

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र,

ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥

इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ॥

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु । मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु । यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् । यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥ आश्व० अ० १ । कं० २१ । सू० ४ ॥

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके, कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेक के, पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सन्मुख पश्चिमाभिमुख बैठ—

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार पश्चात् तीन महाव्याहृति तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रख के अपने हाथ से बालक के दोनों हाथ की अंगुलियों को पकड़ के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्रीमन्त्रोपदेश करे ॥

प्रथम वार—

**ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।**

इतना टुकड़ा एक २ पद का शुद्ध उच्चारण बालक से करा के दूसरी वार—

**ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।**

एक २ पद से यथावत् धीरे २ उच्चारण करवा के, तीसरी वार—

**ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥**

धीरे २ इस मन्त्र को बुलवा के संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थः—( ओ३म् ) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं ( भूः ) जो प्राण का भी प्राण ( भुवः ) सब दुःखों से छुड़ानेहारा ( स्वः ) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है उस ( सवितुः ) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक समग्र ऐश्वर्य के दाता ( देवस्य ) कामना करने योग्य सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो ( वरेण्यम् ) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य ( भर्गः ) सब क्लेशों को भस्म करने हारा पवित्र शुद्ध-स्वरूप है ( तत् ) उसको हम लोग ( धीमहि ) धारण करें ( यः ) यह जो

परमात्मा ( नः ) हमारी ( धियः ) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में ( प्रचोदयात् ) प्रेरणा करे इसी प्रयोजन के लिये इस जगदीश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिये इस प्रकार अर्थ सुनाये, पश्चात्—

**ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि । मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

**ओं इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥ १ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । २७ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥**

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बना के रक्खी हुई मेखला * को बालक के कटि में बांध के—

**ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ १ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ८ । मन्त्र ४ ॥**

इस मन्त्र को बोल के दो शुद्ध कौपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे और उनमें से एक कौपीन, एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे तत्पश्चात् आचार्य दण्ड † हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुष्संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिये ।

† ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू

ओं यो मे दंडः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् । तमहं पुनराददं आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ १ ॥ पार० कां० २ । कं० २ ॥

इस मन्त्र को बोल के बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे, तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ * ॥ १ ॥ अपोऽशान ॥ २ ॥ कर्म कुरु ॥ ३ ॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥ ४ ॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥ ५ ॥ द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥ ६ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ ७ ॥ क्रोधानृते वर्जय ॥ ८ ॥ मैथुनं वर्जय ॥ ९ ॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥ १० ॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥ ११ ॥ अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥ १२ ॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥ १३ ॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥ १४ ॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥ १५ ॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥ १६ ॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥ १७ ॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥ १८ ॥ तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥ २० ॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥ मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥ २२ ॥

---

अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण है और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों और एक २ मृगचर्म उनके बैठने के लिये एक २ जलपात्र एक २ उपपात्र और एक २ आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये ॥

* असौ इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे ।

अर्थः—तू आज से ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥ नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ॥ २ ॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥ ३ ॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥ ४ ॥ आचार्य के आधीन रह के नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥ ५ ॥ एक २ साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह २ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जबतक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें तबतक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥ ६ ॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर ॥ ७ ॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥ ८ ॥ आठ * प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥ ९ ॥ भूमि में शयन करना पलंग आदि पर कभी न सोना ॥ १० ॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥ ११ ॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥ १२ ॥ रात्रि के चौथे पहर में जाग आवश्यक शौचादि दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥ १३ ॥ क्षौर मत करा ॥ १४ ॥ मांस रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥ १५ ॥ बैल घोड़ा हाथी ऊंट आदि की सवारी मत कर ॥ १६ ॥ गांव में निवास और जूता और छत्र का धारण मत कर ॥ १७ ॥ लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्य-स्खलन कभी न करके वीर्य को शरीर में रख के निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे इस प्रकार यत्न से वर्त्ता कर ॥ १८ ॥ तैलादि से अंगमर्दन, उबटना, अतिखट्टा अमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥ १९ ॥ नित्य युक्ति से आहार विहार करके विद्याग्रहण में यत्नशील हो ॥ २० ॥ सुशील, थोड़े बोलनेवाला, सभा में बैठने योग्य गुण

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है जो इनको छोड़ देता है वही ब्रह्मचारी होता है ॥

ग्रहण कर ॥ २१ ॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के और जो निषेध किये वे नित्य न करने के कर्म हैं ॥ २२ ॥

जब यह उपदेश पिता कर चुके तब बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे कि जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूंगा तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता, पिता, बहिन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा * मांगे और जितनी भिक्षा मिले वह, आचार्य के आगे धर देनी तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ासा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को देदेवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान को करना तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासना आचार्य बालक के हाथ से करावे और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १५ में लि० भात बना उसमें घी डाल पात्र में रख पृष्ठ २१ में लि० समिदाधान कर पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और व्याहृति आहुति ४ (चार) दोनों मिलके ८ (आठ ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा हो के पृष्ठ ८० में "ओं अग्ने सुश्रवः०" इस मन्त्र से तीन समिधा की आहुति देवे तत्पश्चात् बालक बैठ के यज्ञकुण्ड की अग्नि से अपना हाथ तपा पृष्ठ १९-२० में पूर्ववत् मुख का स्पर्श कर के अङ्गस्पर्श करना तत्पश्चात् पृष्ठ १५ में लि० प्र० बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिये देवे पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में ले के उसमें घी मिला—

* ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु" और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु" और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु" वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले ॥

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयाशिषꣳ स्वाहा ॥ इदं सदसस्पतये–इदन्न मम ॥ १ ॥ य० अ० ३२ । मं० १३ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ इदं सवित्रे–इदन्न मम ॥ २ ॥ य० अ० २२ । मं० ६ ॥ ओं ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदं ऋषिभ्यः–इदन्न मम ॥ ३ ॥ आश्व० अ० १ । कं० २२ । सू० १४ ॥

इन तीन मन्त्रों से तीन और २३ में लि० ( ओं यदस्य कर्मणो० ) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ ( चार ) पृष्ठ २४–२५ में ( ओं त्वन्नो० ) इन ८ ( आठ ) मन्त्रों से आज्याहुति ८ ( आठ ) मिल के १२ ( वारह ) आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २६ में लि० वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके:—

अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥

ऐसा वाक्य बोल के आचार्य्य का वन्दन करे और आचार्य्य—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥

ऐसा आशीर्वाद देके पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक् २ बैठ के करें तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों उनको यथायोग्य भोजन करा तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जन बालक को निम्नलिखित:—

हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवानरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥

ऐसा आशीर्वाद दे के अपने २ घर को चले जायें तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ (तीन) दिन तक भूमि में शयन प्रातः सायं पृ० ८० में लि० (ओमग्ने सुश्रवः०)

इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ १९–२० में लि० मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे तथा तीन दिन तक ( सदसस्पति० ) इत्यादि पृष्ठ ८७ में लि० ४ ( चार ) स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और तीन ( ३ ) दिन तक क्षार लवण रहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे ॥

**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ११ । सू० ५ ॥**

संक्षेप से भाषार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रख के ३ ( तीन ) रात्रि पर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उसको धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिये सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥ १ ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होमकर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है

क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके ( दीर्घश्मश्रुः ) ४० ( चालीस ) वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पंचकेशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तम समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है वह सब लोगों का संग्रह करके वारंवार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य को विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्ञान हो के अपने सदृश कन्या से विवाह करें वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवति हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है तभी प्रकाशमान होता उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

## ब्रह्मचर्यकालः

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण ।

**मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥ पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य**

यानि चतुर्विंꣳशतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ३ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ४ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहम्प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ५ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥ ६ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को ५ ( पांच ) वर्ष की आयु तक माता पांच से ८ (आठ) तक पिता ८ (आठ) से ४८ (अड़तालीस) ४४ (चवालीस) ४० (चालीस) ३६ ( छत्तीस ) ३० ( तीस ) तक अथवा २५ ( पच्चीस ) वर्ष तक तथा कन्या को ८ (आठ) से २४ ( चौबीस ) २२ ( बाईस ) २० ( बीस ) १८ (अठारह) अथवा १६ ( सोलह ) वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥ यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार उसको आयु बल आदि से संपन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ ( चौबीस ) वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ ( सोलह ) वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण जैसे २४ ( चौबीस ) अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे वह प्रातःसवन कहाता है

जिससे इस मनुष्य-देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥ जो कोई इस २५ ( पच्चीस ) वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ ( पच्चीस ) वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ ( चवालीस ) वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं और सब आश्रमों के मूल सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥ ३ ॥ और जो ४४ ( चवालीस ) वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ ( चवालीस ) अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्र-रूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥ ४ ॥ यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषयसम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता क्योंकि सांसारिक व्यवहार विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुख प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा हो के संपूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा । तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने

कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूंगा ॥ ५ ॥ अब ४८ (अड़तालीस) वर्ष पर्यन्त जैसा कि ४८ (अड़तालीस) अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त सूर्यवत् प्रकाशमान् होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥ यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा इसको पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊंगा इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ा के विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ॥७॥

**चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥**

**पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोड़शे ।**
**समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ १ ॥**

यह धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।

**अर्थः**—इस मनुष्य-देह की ४ अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी संपूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि करनेहारी अवस्था है । इन में १६ (सोलहवें) वर्ष आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है । जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा डंडे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश कर के पश्चात्ताप करेगा, पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५ (पच्चीसवें) वर्ष से और पूर्त्ति ४० (चालीसवें) वर्ष में होती है जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा वह अपनी भाग्यशालिता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० (चालीसवें)

वर्ष में होती है जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी परस्त्रीत्यागी एकस्त्रीव्रत गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा और चौथी ४० ( चालीसवें ) वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य्य की अधिक हानि करेगा वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ॥

अब इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है किन्तु जितना सामर्थ्य २५ ( पच्चीसवें ) वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ ( सोलहवें ) वर्ष में होजाता है यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ ( पच्चीस ) वर्ष का पुरुष और १६ ( सोलह ) वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ ( सत्रहवें ) वर्ष की स्त्री और ३० ( तीस ) वर्ष का पुरुष १८ ( अठारह ) वर्ष की स्त्री और छत्तीस वर्ष का पुरुष १९ ( उन्नीस ) वर्ष की स्त्री ३८ ( अड़तीस ) वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो और जो २० ( बीस ) २१ ( इक्कीस ) २२ ( बाईस ) वा २४ ( चौबीस ) वर्ष की स्त्री ४० ( चालीस ) ४२ ( बयालीस ) ४६ ( छयालीस ) और ४८ ( अड़तालीस ) वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है । हे ब्रह्मचारिन् ! इन वाक्यों को तू ध्यान में रख जो कि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगे जो मनुष्य अपने सन्तान कुलसम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ १ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ २ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ५ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपाँसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ६ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ ७ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ८ ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ ६ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १० ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ११ ॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १२ ॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १३ ॥
संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १४ ॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १५ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६ ॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ १७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ १८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १९ ॥ मनु० ॥

अर्थः—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ ( मूत्र का मार्ग ), हाथ, पग, वाणी ये दश ( १० ) इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ १ ॥ इसमें कर्ण आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥ ग्यारहवां इन्द्रिय मन है वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी होजाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ जिस का ब्राह्मणपन ( सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि ) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव ( वर्णाश्रम के गुण कर्म ) बिगड़े हैं उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग अर्थात् संन्यास लेना, यज्ञ ( अग्निहोत्रादि ) करना, नियम ( ब्रह्मचर्याश्रम आदि ) करना, तप ( निन्दा, स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन ) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् २ पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥७॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों * को न करता हुआ और केवल नियमों † का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित होजाता है इसलिये यमसेवनपूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥ अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है उसकी अवस्था, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥ अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्या विचार में निपुण है वह पितास्थानीय होता है क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम संपन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा भूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वादविवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥ उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर भूल जाय, केश पक जावें किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है इससे ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥ जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात्

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥

निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा ये ५ यम हैं ॥

† शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

शौच, सन्तोष, तप ( हानि लाभ आदि द्वन्द्व का सहना ), स्वाध्याय ( वेद का पढ़ना ), ईश्वरप्रणिधान ( सर्वस्व ईश्वरार्पण ) ये ५ नियम कहाते हैं ॥

ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥ ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥ द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर अवश्य वेद विद्याध्ययन करे ॥ १५ ॥ जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त होजाता है इससे ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥ जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है वैसे गुरु की सेवा करने वाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है उस को प्राप्त होता है इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े॥१७॥ उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है, इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व २ ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि— ॥ १८ ॥ विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-संपन्न होकर देश २ पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥१९॥

**यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७। अनु० ११॥**

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य ! जो अनिन्दित पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण रहित न्यायधर्माचरण सहित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना । हे शिष्य ! जो तेरे माता पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उनका आचरण कभी मत कर । हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप बैठना संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥ हे शिष्य ! यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं उनका यथाशक्ति ज्ञान करना, और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना करना, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥ २ ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्या० । दमश्च स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ ३ ॥ तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० ७ । अनु० ९ ॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर । सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपनी इन्द्रियों

को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर, तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। सत्यवादी होना तप (है) (यह) सत्यवचा राथीतर आचार्य (का), न्यायाचरण में कष्ट सहना तप (है) (यह) तपोनित्य, पौरुशिष्टि आचार्य (का), और धर्म में चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाकोमौद्गल्य आचार्य का मत है; और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप [ यही पूर्वोक्त तप ] है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावें। यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा १ (एक) महीने के भीतर पढ़ा देवें। पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ ( आठ ) महीने में अथवा १ ( एक ) वर्ष में पढ़ाकर, धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ ( छः ) महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति, समास, शंकासमाधान, उत्सर्ग अपवाद, * अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृतभाषण का भी अभ्यास कराते जायँ, ८ महीने के भीतर इतना पढ़ना पढ़ाना चाहिये ॥

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य, जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ ( छः ) ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ ( अठारह ) महीने में इसको पढ़ना पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण शास्त्र को ३ ( तीन ) वर्ष ५

* जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है ॥

( पांच ) महीने वा नौ महीने अथवा ४ ( चार ) वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे । तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु निरुक्त, तथा कात्यायनादिमुनि कृत कोश १॥ ( डेढ़ ) वर्ष के भीतर पढ़ के, अव्ययार्थ, आप्तमुनिकृत वाच्यवाचकसम्बन्धरूप * यौगिक योगरूढि और रूढि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें । तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्य-कृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ ( तीन ) महीने में पढ़ और ३ ( तीन ) महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखे । पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़ के, इसीके साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में के १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के ये सब १ ( एक ) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें । तथा १ ( एक ) वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ ( एक ) सिद्धान्त से गणितविद्या जिसमें बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित जिसको अङ्कगणित भी कहते हैं पढ़ें और पढ़ावें । निघण्टु से ले के ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को चार वर्ष के भीतर पढ़ें । तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गोतममुनिकृत प्रशस्तपाद-भाष्य सहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित गोतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनिकृत भाष्यसहित पतञ्जलि-मुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्य्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरिकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० ( दश ) उपनिषद् [ व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र ] इन ६ ( छः ) शास्त्रों को २ ( दो ) वर्ष के भीतर पढ़ लेवें । तत्पश्चात् बह्वृच ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र † और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः,

* यौगिक—जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे, जैसे—पाचक याजकादि । योगरूढि, जैसे—पङ्कजादि । रूढि, जैसे—धन, वन इत्यादि ॥

† जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण न करना ॥

स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ सहित ऋग्वेद का पठन ३ वर्ष के भीतर करे, इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ ( दो ) वर्ष, तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गानसहित सामवेद को २ ( दो ) वर्ष, तथा गोपथब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद २ ( दो ) वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। सब मिल के ९ ( नौ ) वर्षों के भीतर ४ ( चारों ) वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये। पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इनको ३ (तीन) वर्ष के भीतर पढ़ें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं बना कर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें, तथा जो उसमें शारीरिकादि विद्या लिखी हैं साक्षात् करें।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते ३ ( तीन ) वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें। पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिसमें नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ ( तीन ) वर्ष के भीतर करे।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको ६ ( छः ) वर्ष के भीतर पढ़ के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें। ये शिक्षा से ले के आयुर्वेद तक १४ ( चौदह ) विद्याओं को ३१ ( इकत्तीस ) वर्षों में पढ़ के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें॥

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ

# समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाहविधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय छोड़ के घर की ओर आना। इसमें प्रमाणः—

**वेदसमाप्तिं वाचयीत*। कल्याणैः सह सम्प्रयोगः†। स्नातकायोपस्थिताय। राज्ञे च। आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च दधनि मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे। विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः‡॥** यह आश्वलायनगृह्यसूत्र।

तथा पारस्करगृह्यसूत्रः—

**वेदꣳ समाप्य स्नायाद्। ब्रह्मचर्यं वाष्टचत्वारिꣳशकम्¶। त्रय एव स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति§॥**

जब वेदों की समाप्ति हो तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे। राजा आचार्य श्वशुर चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूर्ण करके ब्रह्मचारी घर को आवे तब प्रथम (पाद्यम्) पग धोने का जल (अर्घ्यम्) मुखप्रक्षालन के लिये जल और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके एक अच्छे पात्र में धर इनको मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत-

* अ० १। कण्डि० २२। सू० १६॥ † अ० १। कण्डि० २३। सू० २०॥
‡ अ० १। कण्डि० २४। सू० २-७॥ ¶ कां० २। कण्डि० ६। सू० १, २॥
§ कां० २। कण्डि० ५। सू० ३२॥

स्नातक ये तीन * प्रकार के स्नातक होते हैं इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ ( अड़तालीस ) वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रतस्नान करे॥

तानि कल्पंद् ब्रह्मचारी संलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ अथर्व० कां० ११ । प्रपा० २४ । व० १६ । मं० २६ ॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्य्यनिग्रह आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० १०४ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है वही धन्यवाद के योग्य है ॥

इसका समय–पृ० ८९–९३ तक में लिखे प्रमाणे जानना । परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्य व्रत भी पूरा होवे तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें । विवाह के स्थान दो हैं एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर । दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे । इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे ।

विधिः—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे उस दिन आचार्य्य के घर में पृ० १३–१४ में लिखे यज्ञकुण्ड आदि बना के सब शाकल्य और सामग्री संस्कार दिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे और स्थालीपाक † बना के तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे पुनः पृ० १९ में लिखे० यथावत् ४ ( चारों ) दिशाओं में आसन बिछा बैठ पृ० ४ ( चार ) से पृ० १२ तक

* जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक, जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है ॥

† जो कि पूर्व पृ० १५ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रक्खा—

में ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें और जितने वहां पुरुष आये हों वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें तत्पश्चात् पृ० २०—२१ में अग्न्याधान समिदाधान करके पृ० २२ में वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठ के पृ० २२–२३ में आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और पृ० २३ में व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और पृ० २४–२५ में अष्टाज्याहुति ८ ( आठ ) और पृ० २३ में स्विष्टकृत् आहुति १ ( एक ) और प्राजापत्याहुति १ (एक) ये सब मिलके ( अठारह ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पृ० ८० में० ( ओं अग्ने सुश्रवः० ) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे तत्पश्चात् पृ० ८० में० ( ओं अग्नये समिध० ) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ ( तीन ) समिधा होम कर पृ० ८१ में० ( ओं० तनूपा० ) इत्यादि ७ ( सात ) मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगि पर थोड़ीसी तपा उस जल से मुखस्पर्श और तत्पश्चात् पृ० १९–२० में० ( ओं वाङ्म० ) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श कर पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ ( आठ ) घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों उनमें सेः—

**ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १० ॥**

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके उस घड़े में से जल ले केः—

**ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥ पार० कां०२ । कं० ६ । सू० ११ ॥**

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् उपरिकथित ( ओं ये अप्स्वन्तर० ) इस मन्त्र को बोल के दूसरे घड़े को ले उसमें से लोटे में जल ले केः—

**ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशतां सुरान् । येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥ पार० कां० २ । कं० ६ । सू० १२ ॥**

इस मन्त्र को बोल के स्नान करना तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के ( ओं ये अप्स्वन्तर० ) इसी मन्त्र का पाठ बोल के वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ ( तीन ) घड़ों को ले के पृ० ७५ में लिखे हुए ( आपो हि ष्ठा० ) इन ३ ( तीन ) मन्त्रों को बोल के उन घड़ों के जल से स्नान करना, तत्पश्चात् ८ ( आठ ) घड़ों में से रहे हुए ३ ( तीन ) घड़ों को ले के ( ओं आपो हि० ) इन्हीं ३ ( तीन ) मन्त्रों को मन में बोल के स्नान करे पुनः—

ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमꣳ श्रथाय । अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ऋ० मं० १ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी अपना मेखला और दण्ड को छोड़े तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर: —

ओं उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवायावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायंयावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन करा के:—

ओं अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥

इस मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे । तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य शरीर पर मल के शुद्ध जल से स्नान कर शरीर को पोंछ अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे तत्पश्चात् चक्षु मुख नासिका के छिद्रों का:—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥ पार० कां० २ कं० ६॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके:—

**ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ के सव्य होके:—

**ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र का जप करके:—

**ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ पा० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से सुन्दर अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करके:—

**ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके:—

**ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके:—

**ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से धारण करनी, पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ७६ में लि० ( युवा सुवासाः० ) इस मन्त्र से धारण करे उसके पश्चात् अलङ्कार ले के:—

**ओं अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र से धारण करे और:—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ यजु० अ० ४। मं० ३॥

इस मन्त्र से आंख में अंजन करना। तत्पश्चात्:—

ओं रोचिष्णुरसि ॥ पार० कां २। कं० ६॥

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे। तत्पश्चात्:—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मामन्तर्धेहि॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से छत्र धारण करे पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से उपानह् पादवेष्टन पगरखा और जिसको जोड़ा भी कहते हैं धारण करे, तत्पश्चात्:—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥ पार० कां० २। कं० ६॥

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी, तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता पिता आदि जब वह आचार्यकुल से अपना पुत्र घर को आवे उसको बड़े मान प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें, घर पर लाके उनके पिता माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृष्ठ १०२ में लिखे प्र० करें पुनः संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्नपानादि से सत्कारपूर्वक भोजन करा के और वह ब्रह्मचारी और उसके माता पितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर सुन्दर पुष्पमाला वस्त्र गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके सब के सामने आचार्य के जोकि उत्तम गुण हों उनकी प्रशंसा कर और विद्यादान की

कृतज्ञता सब को सुनावे । सुनो भद्रजनो ! इन महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है जिसने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है उसका प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान दे के कृतकृत्य किया उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे और (जैसे आपने मुझको) विद्या दे के आनन्दित किया है वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने पढ़ाने हारे तथा सब संसार पर अपनी कृपादृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करे कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर करा के सदा आनन्द में रहें ॥

इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने २ वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाणः—

**उदगयन आपूर्य्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे * चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥ १ ॥ सार्वकालमेके विवाहम् ॥ २ ॥**

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

**आवसथ्याधानं दारकाले ॥ ३ ॥**

इत्यादि पारस्कर और—

**पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ ४ ॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ ५ ॥**

इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थः—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥ और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥ जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है उस का आवसथ्य नाम है ॥ ३ ॥ प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥ ४ ॥ ५ ॥

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है इससे प्रमाण नहीं।

इस का समयः—पृष्ठ ८६–९३ तक में जानना चाहिये वधू और वर की आयु, कुल, वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये। इसमें प्रमाणः—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ २॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ३॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ ४॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामय्याव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ ५॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ६॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ ७॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ ८॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ ९॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः॥ १०॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ११ ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ १२ ॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ १३ ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ १५ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ १६ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ १७ ॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ १८ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ १९ ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ २० ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥२१॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ (चार), ३ (तीन), २ (दो) अथवा १ (एक) वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करे ॥१॥ यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री

से विवाह करे ॥ २ ॥ जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के लिये विवाह करने में उत्तम है ॥ ३ ॥ विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल, चाहें वे गाय आदि पशु धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ४ ॥ वे दश कुल ये हैं:—१ एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो । ३ तीसरा-जिस कुल में कोई विद्वान् न हो । ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े २ लोम हों । ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर हो । ६ छठा—जिस कुल में क्षयी ( राजयक्ष्मा ) रोग हो । ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो । ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो । ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ और १० दशवां—जिस कुल में गलित कुष्ठ आदि रोग हों । उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥ ५ ॥ पीले वर्णवाली, अधिक अंगवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिस के शरीर पर बड़े २ लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ॥ ६ ॥ तथा जिस कन्या का ( ऋक्ष ) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि, ( नदी ) जिसका गंगा, यमुना इत्यादि, ( पर्वत ) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, ( पक्षी ) पक्षी पर अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, ( अहि ) अर्थात् उरगा भोगिनी इत्यादि, ( प्रेष्य ) दासी इत्यादि और जिस कन्या का ( भीषण ) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो उससे विवाह न करे ॥ ७ ॥ किन्तु जिस के सुन्दर अंग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिसके सूक्ष्म लोम सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों जिसके सब अङ्ग कोमल हों उस स्त्री से विवाह करे ॥ ८ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्म कन्या के योग्य सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार कर के कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो उसको कन्या देना वह ब्राह्म विवाह कहाता है ॥ १० ॥ विस्तृत यज्ञ में बड़े २ विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके

देना वह देव विवाह ॥ ११ ॥ ३ ( तीसरा ) १ ( एक ) गाय बैल का जोड़ा अथवा २ ( दो ) जोड़े * वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह ॥ १२ ॥ और ४ ( चौथा ) कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिल के गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना वह प्राजापत्य विवाह कहाता है। ये ४ ( चार ) विवाह उत्तम हैं ॥ १३ ॥ और ५ ( पांचवां ) वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन देके होम आदि विधि कर कन्या देना आसुर विवाह कहाता है ॥ १४ ॥ ६ ( छठा ) वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्रीपुरुष हैं यह काम से हुआ गान्धर्व विवाह कहाता है ॥ १५ ॥ और ७ ( सातवां ) हनन छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना वह राक्षस विवाह ॥ १६ ॥ और जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पा कर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच दुष्ट अतिदुष्ट पैशाच विवाह है ॥ १७ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन ४ ( चार ) विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्रीपुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के संमत, अत्युत्तम होते हैं ॥ १८ ॥ वे पुत्र वा कन्या सुन्दररूप, बल, पराक्रम, शुद्धबुद्ध्यादि उत्तम गुणयुक्त, बहुधनयुक्त, पुण्यकीर्त्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० ( सौ ) वर्ष तक जीते हैं ॥ १९ ॥ इन चार विवाहों से जो बाकी रहे [ ४ ( चार ) ] आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दितकर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ॥ २० ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनका वर्त्ताव किया करें ॥ २१ ॥

* यह बात मिथ्या है क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है इसलिये कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्षविवाह है ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥ १ ॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ २ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ३ ॥ मनु० ॥

यदि माता पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण कर्म स्वभाववाले, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त, वर ही को चाहें। वह कन्या (वर) माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अतिप्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ॥ १ ॥ चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्टपुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥ २ ॥ जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से ३ ( तीन ) वर्ष को छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करे ॥ ३ ॥

( **प्रश्न** ) "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी ? (उत्तर) इन श्लोकों और इनके मानने वालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा उनको नष्ट भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं वे अपने कुल का जानों सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ (सोलह) वर्ष से न्यून कन्या और २५ ( पच्चीस ) वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें करावें । इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा ॥

**(प्रश्न)** विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये ? **(उत्तर)**

**दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ॥**

यह निरुक्त का प्रमाण है कि जितना दूर देश में विवाह होगा उतना ही उनको अधिक लाभ होगा ( प्रश्न ) अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? ( उत्तर ) एक दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं। तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति उन्नति ऐश्वर्य बढ़ता है निकट से नहीं। युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ १ ॥ अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्। कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ २ ॥ अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्। आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४—६ ॥ वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्। आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्त्तयाते ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ३७। मं० ३ ॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः। उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७ ॥

अर्थः—जो ( मर्मृज्यमानाः ) उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त ( युवतयः ) २० ( बीसवें ) वर्ष से २४ ( चौबीसवें ) वर्ष वाली हैं वे कन्या लोग जैसे ( आपः ) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे ( अस्मेराः ) हमको प्राप्त होनेवाली अपने २ प्रसन्न अपने २ से ड्योढ़े वा दूने आयुवाले ( तम् ) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण शुभलक्षणयुक्त ( युवा-

नम् ) जवान पति को ( परियन्ति ) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं ( सः ) वह ब्रह्मचारी ( शुक्रेभिः ) शुद्ध गुण और ( शिक्वभिः ) वीर्यादि से युक्त हो के ( अस्मे ) हमारे मध्य में ( रेवत् ) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को और ( दीदाय ) अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक् ) जल को शोधन करने हारा ( अनिध्मः ) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री पुरुष प्राप्त होवें ॥ १ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जैसे ( तिस्रः ) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त ( देवीः, नारीः ) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां ( अस्मै ) इस (अव्यथ्याय ) पीड़ा से रहित ( देवाय ) काम के लिये ( अन्नम् ) अन्नादि उत्तम पदार्थों को ( दिधिषन्ति ) धारण करती हैं ( कृता इव ) की हुई शिक्षायुक्त के समान ( अप्सु ) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री ( उप, प्रसर्स्रे ) सम्बन्ध को प्राप्त होती है ( स, हि ) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है जैसे जलों में ( पीयूषम् ) अमृतरूप रस को ( पूर्वसूनाम् ) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक ( धयति ) दुग्ध पी के बढ़ता है वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥ २ ॥ जैसे राजादि सब लोग ( पूर्षु ) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् ( अप्रमृष्यम् ) शत्रुओं को सहने अयोग्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को ( अरातयः ) शत्रु लोग ( न ) नहीं ( विनशन् ) विनाश कर सकते और ( अनृतानि ) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त ( न ) नहीं होते वैसे उत्तम स्त्री पुरुषों को ( द्रुहः ) द्रोह आदि दुर्गुण और ( रिषः ) हिंसा आदि पाप ( न, सम्पृचः ) सम्बन्ध नहीं करते किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं इनके ( अस्य ) इस ( अश्वस्य ) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का ( जनिम ) जन्म होता है इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष ! तू ( सूरीन् ) विद्वानों की ( पाहि ) रक्षा कर ( च ) और ऐसे गृहस्थों को ( अत्र ) इस गृहाश्रम में सदैव

( स्वः ) सुख बढ़ता रहता है ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! ( यः ) जो पूर्वोक्त लक्षण-युक्त पूर्ण जवान ( ईम् ) सब प्रकार की परीक्षा करके ( महिषीम् ) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्याशुभगुणरूपसुशीलतादि युक्त ( इषिराम् ) वर की इच्छा करनेहारी हृदय को प्रिय स्त्री को ( एति ) प्राप्त होता है और जो ( पतिम् ) विवाह से अपने स्वामी की ( इच्छन्ती ) इच्छा करती हुई ( इयम् ) यह ( वधूः ) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को ( एति ) प्राप्त होती है वह पुरुष वा स्त्री ( अस्य ) इस गृहाश्रम के मध्य ( आश्रवस्यात् ) अत्यन्त विद्या धन धान्ययुक्त सब ओर से होवे और वे दोनों ( रथः ) रथ के समान ( आ-घोषात् ) परस्पर प्रिय वचन बोलें ( च ) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों ( पुरु ) बहुत ( सहस्रा ) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को ( परिवर्तयाते ) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ तो वे ( वन्द्येभिः ) कामना के योग्य ( चितयद्भिः ) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे ( अर्कैः ) सत्कार के योग्य ( शूषैः ) शरीरात्मबलों से युक्त हो के ( वः ) तुम्हारे लिये ( एषे ) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें और वे ( उषासानक्ता ) जैसे दिन और रात तथा जैसे ( विदुषीव ) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष ( विश्वम् ) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को ( आवहतः ) सब ओर से प्राप्त होते हैं ( ह ) वैसे ही इस ( यज्ञम् ) संगतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री पुरुष पूर्ण कर सकते हैं और ( मर्त्याय ) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है और ( यह्वी ) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाववाले स्त्री पुरुष दोनों ( दिवः ) कामनाओं को ( उप, प्र, वहतः ) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं अन्य नहीं ॥ ५ ॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके जिससे जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है । जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर

कन्या का विवाह करावेंगे वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते कराते हैं वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं ( **प्रश्न** ) विवाह अपने २ वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी ? ( **उत्तर** ) अपने २ वर्ण में । परन्तु वर्णव्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार होनी चाहिये जन्ममात्र से नहीं । जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादिदोषरहित विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों वह ब्राह्मण ब्राह्मणी । विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों वह क्षत्रिय क्षत्रिया । और विद्वान् हो के कृषि पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरत्वादि गुण जिस में हों वह वैश्य वैश्या । और जो विद्याहीन मूर्ख हो वह शूद्र शूद्रा कहावे । इसी क्रम से विवाह होना चाहिये अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है अन्यथा नहीं ॥ इस वर्णव्यवस्था में प्रमाणः—

**धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥**
**अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥**
**आपस्तम्ब ॥**

**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।**
**क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ३ ॥ मनुस्मृतौ ॥**

अर्थः—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो २ कर्त्तव्य अधिकार रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ॥ १ ॥ वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम २ वर्ण नीचे २ के वर्ण को प्राप्त होवे और वे ही उस २ वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ॥ २ ॥ उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह

क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते; और उत्तम वर्ण, भय से कि मैं नीच वर्ण न होजाऊं इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं इस से संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जवतक ऐसी वर्णव्यवस्था (अर्थात्) पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था तभी देश की उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिये जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ॥

अब वधू वर एक दूसरे के गुण कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें:—दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह कपट द्यूत चोरी मद्य मांसादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुरता हो जब २ प्रातः सायं वा परदेश से आकर मिलें तब २ नमस्ते इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर स्त्री पति के चरणस्पर्श पादप्रक्षालन आसनदान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्तकर आनन्द भोगें वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें ॥

**ओं ऋतमग्ने प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् । यत्सत्यं तद्दृश्यताम् ॥**

अर्थः–जब विवाह करने का समय निश्चय होचुके तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि हे स्त्री

वा हे पुरुष ! इस जगत् के पूर्व ऋत यथार्थस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य त्रिगुणात्मक नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों में विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूं उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढ़ोत्साही रहें ॥

विधिः—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उस में विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये और १३–१९ पृष्ठ में लि० यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है पश्चात् एक * घंटेमात्र रात्रि जाने परः—

**ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुं सुरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ॥ ३ ॥ मन्त्र ब्रा० १ । १ । १–३ ॥**

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू वर स्नान कर पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से १२ तक लि० प्र० ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण करें तत्पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान पृष्ठ १५ में लि० स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खे वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ ४–८ में लि० प्र० ईश्वर-

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाहविधि पूरा होजावे ॥

स्तुति * प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सामान (सम्मान?) से वर को घर लेजावें जिस समय वर वधू के घर प्रवेश करे उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार आदर सत्कार करें उसकी रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रह के वधू और कार्यकर्त्ता--

**साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ४ ॥**

इस वाक्य को बोले उस पर वर—

**ओं अर्चय ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ४ ॥**

ऐसा प्रत्युत्तर देवे पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रक्खा हो उसको वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रहे ॥

**ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

यह उत्तम आसन है आप ग्रहण कीजिये, वर--

**ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस वाक्य को बोल के वधू के हाथ से आसन ले बिछा उस पर सभा-मंडप में पूर्वाभिमुख बैठ के वर--

**ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः । इमन्तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भर के कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

* विवाह में आए हुए भी स्त्री पुरुष एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित हो के इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें ॥

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के वर के आगे धरे पुनः वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से उदक ले पग * प्रक्षालन करे और उस समय—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे । पुनः कन्या—

ओं अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के वर के हाथ में देवे, और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से जलपात्र ले के उससे मुखप्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके—

ओं आपस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि । ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टास्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे और उस समय कन्या—

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हों तो प्रथम बायां पग धोवे पश्चात् दाहिना ॥

**ओं आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयम्प्रतिगृह्यताम् ॥**

इस वाक्य को बोल के सामने करे और वर—

**ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर उसमें से दहिने हाथ में जल जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना ले के वर—

**ओं आमागन् यशसा संꣳसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस मन्त्र से एक आचमन इसी प्रकार दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़ के दूसरा और तीसरा आचमन करे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, मधुपर्क * का पात्र कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

**ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥**

ऐसी विनती वर से करे और वर—

**ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से ले और उस समय—

**ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥**

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे और—

---

* मधुपर्क उस को कहते हैं जो दही में घी वा सहत मिलाया जाता है उस का परिमाण १२ ( बारह ) तोले दही में ४ ( चार ) तोले सहत अथवा ४ ( चार ) तोले घी मिलाना चाहिये और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ॥

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति-गृह्णामि ॥ य० अ० १ । मं० १० ॥

इस मन्त्र को बोल के मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे और:—

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वी-र्नस्सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वन-स्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥ य० अ० १३ । मं० २७–२९ ॥

इन तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ । सू० ९ ॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन वार बिलोवे और उस मधुपर्क में से वर—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पूर्व दिशा ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा ।

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा २ छोड़े अर्थात् छींटे देवे ।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० १५ ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन वार फेंकना । तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे, रख के—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस मन्त्र को एक २ वार बोल के एक २ भाग में से वर थोड़ा २ प्राशन करे वा सब प्राशन करे, जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २१ ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० २४ । सू० २२ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आचमन अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे । तत्पश्चात् वर पृष्ठ १९–२० में लि० प्र० चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ पार० कां० १ । कं० ३ ॥

इस वाक्य से उसको ग्रहण करे, इस प्रकार मधुपर्कविधि यथावत् करके वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान * से घर में ले जा के शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठा के वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठ के—

**ओं अमुक † गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नी‡मलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥**

इस प्रकार बोल के वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रखके उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना और वह——

**ओं प्रतिगृह्णामि ॥**

ऐसा बोलके—

**ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० कां० १ । कं० ४ ॥**

इस मन्त्र को बोल के वधू को उत्तम वस्त्र देवे । तत्पश्चात्——

**ओं या अकृतन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ पार० गृ० कां० १ । कं० ४ ॥**

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उससे दूसरे घर में वर को लेजावे ॥

† अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उसका उच्चारण अर्थात् उसका नाम लेना ॥

‡ "अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ॥

इस मन्त्र को बोल के वधू को वर उपवस्त्र देवे, वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।

**ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र को पढ़ के वर आप अधोवस्त्र धारण करे और:—

**ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ पार० कां० २ । कं० ६ ॥**

इस मन्त्र को पढ़ के द्विपट्टा धारण करे। इस प्रकार वधू वस्त्र परिधान करके जबतक सम्हले तबतक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ २०—२१ में लि० इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे, और आहुति के लिये सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर कांसे के पात्र में रक्खे, और स्रुवादि होम के पात्र तथा शुद्ध जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़ कर रक्खे, और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को ले के यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख हो कलशस्थापन अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धर के जबतक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय तबतक उत्तराभिमुख बैठा रहे, और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड ले के कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्यसमाप्तिपर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे, और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई, अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र, अथवा मौसी का लड़का हो वह चावल या जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ ( चार ) अञ्जलि एक शुद्ध सूप में रख के धाणी सहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाटाशिला जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिये दो कुशासन वा यज्ञीय

तृणासन अथवा यज्ञीय वृक्ष की छाल के जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों उन आसनों को रखवावे। तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय वर और कन्या—

**ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।**

**सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ * ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४७ ॥**

इस मन्त्र को बोलें। तत्पश्चात् वर दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़ के:—

**ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु † असौ ॥ २ ॥ पार० कां० १ । कं० ४ ॥**

---

* वर और कन्या बोलें कि हे ( विश्वे, देवाः ) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को ( समञ्जन्तु ) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे का स्वीकार करते हैं कि ( नौ ) हमारे दोनों के ( हृदयानि ) हृदय ( आपः ) जल के समान ( सम् ) शान्त और मिले हुए रहेंगे जैसे ( मातरिश्वा ) प्राणवायु हम को प्रिय है वैसे ( सम् ) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे जैसे ( धाता ) धारण करने-हारा परमात्मा सब में ( सम् ) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है वैसे हम दोनों एक दूसरे का धारण करेंगे जैसे ( समुदेष्ट्री ) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे ( नौ ) हमारे दोनों का आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को ( दधातु ) धारण करे ॥

† ( असौ ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना, हे वरानने वा हे वरानन! ( यत् ) जो तू ( मनसा ) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु ( वा ) जैसे ( हिरण्यपर्णः, वैकर्णः ) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करने वाला सूर्य ( दूरम् ) दूरस्थ पदार्थों और ( दिशोनु ) दिशाओं को प्राप्त होता वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है, उस ( त्वा ) तुझ को ( सः ) वह परमेश्वर ( मन्मनसाम् ) मेरे मन के अनुकूल ( करोतु ) करे, और हे ( वीर ) जो आप मन से मुझ को ( एषि ) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥

इस मन्त्र को बोल के उसको लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों वे और वधू तथा वर—

ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * ॥ ३॥ ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरयसा न ऊरू उशति विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामुकामा बहवो निविष्टयै ॥ ४॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५ ॥

इन चार मन्त्रों को वर बोल के दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठ के वधूः—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳशिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥ मं० ब्रा० १। १। ८॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् पृष्ठ ४९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी। तत्पश्चात् पृ० १९ में लिखे—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥

* हे वरानने (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो (शिवा) मंगल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त हो के (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं की भी (शम्) सुख देनेहारी हो वैसे ही मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूं ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक २ आचमन वैसे तीन आचमन वर, वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्ध-पात्र में करके दूर रखवा दे हाथ और मुख पोंछ के पृ० २० में लिखे यज्ञकुण्ड में ( ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव० ) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० २१ में लिखे० ( ओं अयन्त इध्म० ) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान और पृ० २२ में लिखे०—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर और ( ओं देव सवितः प्रसुव० ) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृ० २२—२३ में लि० वधू वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २३ में लि० व्याहृति आहुति ४ (चार) घी की और पृ० २४—२५ में लि० अष्टाज्याहुति ८ ( आठ ) ये सब मिल के १६ ( सोलह ) आज्याहुति दे के प्रधान होम का प्रारम्भ करें । प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २४ में लि० ( ओं भूर्भुवः स्वः अग्न आयूंषि० ) इत्यादि चार मन्त्रों से अर्थात् एक २ से एक २ मिल के ४ ( चार ) आज्याहुति क्रम से करें और—

ओं भूर्भुवः स्वः । त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ऋ० मं० ५ । सू० ३ । मन्त्र २ ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी तत्पश्चात्—

ओं ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृतासाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं सꣳहितो विश्व-

सामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय, सूर्यरश्मये, चन्द्रमसे, गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यो अप्सरोभ्य ऊर्ग्भ्यः—इदन्न मम ॥ ८ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय, गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्यो अप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः—इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे, मनसे, गन्धर्वाय—इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः—इदन्न मम ॥ १२ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन बारह ( १२ ) मन्त्रों से बारह ( राष्ट्रभृत ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् जयाहोम करना ॥

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं विज्ञातञ्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय—इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं विज्ञातिश्च

स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं शक्वरीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्वरीभ्यः–इदन्न मम ॥८॥ ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय-इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं रथन्तरञ्च स्वाहा । इदं रथन्तराय, इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः प्रतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय–इदन्न मम ॥ १३ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके जयाहोम की १३ ( तेरह ) आज्याहुति देनी तत्पश्चात् अभ्यातान होम करना, इसके मन्त्र ये हैं:—

ओं अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये–इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं यमः पृथिव्याऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदं वायवे, अन्तरिक्षस्याधिपतये–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये–इदन्न मम ॥ ५ ॥ ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या॰ स्वाहा ॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये–इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्

कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये–इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥८॥ ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये–इदन्न मम ॥ ९ ॥ ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १० ॥ ओं अन्नᳬं साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये–इदन्न मम ॥ ११ ॥ ओं सोमओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं सोमाय, ओषधीनामधिपतये–इदन्न मम ॥ १२ ॥ ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १३ ॥ ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये–इदन्न मम ॥ १४ ॥ ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये–इदन्न मम ॥ १५ ॥ ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये–इदन्न मम ॥ १६ ॥ ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहा ॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः–इदन्न मम ॥ १७ ॥ ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्

चत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या᳭ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च—इदन्न मम ॥ १८ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥

इस प्रकार अभ्यातान होम की १८ (अठारह) आज्याहुति दिये पीछे पुनः—

ओं अग्निरैतु प्रथमो देवताना᳭ं सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदय᳭ं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामिय᳭ं स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ २ ॥ मं० ब्रा० १ । १–२ ॥ ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा * पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र । यदस्यां महि † दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्र᳭ं स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतं म ‡ आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा᳭ं रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे—इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० १ । कं० ५ ॥ ओं द्यौस्ते पृष्ठ᳭ं रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधाद्बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम ॥ ६ ॥ ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्व᳭ं रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजा᳭ं सुमनस्यमाना᳭ं स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ७ ॥ ओं अप्रजस्य पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णस्स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाश᳭ं स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ८ ॥ मं० ब्रा० १ । १ । १–३ ॥

* पारस्कर में "दिव आपृथिव्या" ऐसा पाठ है ॥

† पारस्कर में "महि" ऐसा पाठ है ॥ ‡ पारस्कर में "नः" पाठ भी है ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये तत्पश्चात् २३ पृष्ठ में लि० प्र०—

ओं भूरग्नये स्वाहा * ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से ४ ( चार ) आज्याहुति दीजिये ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठा सहित चत्ती ग्रहण करके वर—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः † ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३६ ॥

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ‡ ॥ २ ॥ ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः । मया

---

* गोभिल गृह्यसूत्र प्रपा० २ । खं० १ । सू० २५ । २६ ॥

† हे वरानने ! जैसे मैं ( सौभगत्वाय ) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये ( ते ) तेरे ( हस्तम् ) हाथ को ( गृभ्णामि ) ग्रहण करता हूं तू ( मया ) मुझ ( पत्या ) पति के साथ ( जरदष्टिः ) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक ( आसः ) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आप के हस्त को ग्रहण करती हूं आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये आप को मैं और मुझ को आप आज से पतिपत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं ( भगः ) सकल ऐश्वर्ययुक्त ( अर्यमा ) न्यायकारी ( सविता ) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता ( पुरन्धिः ) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और ( देवाः ) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग ( गार्हपत्याय ) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये ( त्वा ) तुझ को ( मह्यम् ) मुझे ( अदुः ) देते हैं आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥

‡ हे प्रिये ! ( भगः ) ऐश्वर्ययुक्त मैं ( ते ) तेरे ( हस्तम् ) हाथ को ( अग्रभीत् ) ग्रहण करता हूं तथा ( सविता ) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे ( हस्तम् )

पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् * ॥ ३ ॥ त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् । तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया † ॥ ४ ॥ इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा

हाथ को ( अग्रभीत् ) ग्रहण कर चुका हूं ( त्वम् ) तू ( धर्मणा ) धर्म से मेरी पत्नी-भार्या ( असि ) है और ( अहम् ) मैं धर्म से ( तव ) तेरा ( गृहपतिः ) गृहपति हूं अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है उसको कभी न करें जिससे घर के सब काम सिद्ध उत्तम सन्तान ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥

* हे अनघे ! ( बृहस्पतिः ) सब जगत् को पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस ( त्वा ) तुझ को ( मह्यम् ) मुझे ( अदात् ) दिया है ( इयम् ) यही तू जगत् भर में मेरी ( पोष्या ) पोषण करने योग्य पत्नी ( अस्तु ) हो, हे ( प्रजावति ) तूं ( मया, पत्या ) मुझ पति के साथ ( शतम् ) सौ ( शरदः ) शरदृतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त ( शं, जीव ) सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे। हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो मेरे लिये आप के विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्तूंगी आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये ॥

† हे शुभानने ! जैसे ( बृहस्पतेः ) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा ( कवीनाम् ) आप्त विद्वानों की ( प्रशिषा ) शिक्षा से दंपति होते हैं ( त्वष्टा ) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये ( वासः ) सुन्दर वस्त्र ( शुभे ) और आभूषण तथा ( कम् ) मुझ से सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा ( व्यदधात् ) सिद्ध करे जैसे ( सवितः ) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा ( च ) और ( भगः ) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त ( प्रजया ) उत्तम प्रजा से ( इमाम् ) इस तुझ ( नारीम् ) मुझ नर की स्त्री को ( परिधत्ताम् ) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं ( तेन ) इस सब से ( सूर्यामिव ) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके ( प्रजया ) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥

भगो अश्विनोभा । बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु *
॥ ५ ॥ अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसा कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रन्थानो वरुणस्य पाशान् † ॥ ६ ॥
अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । सू० १ । मं० ५१—५७ ॥

इन पाणिग्रहण के छः मन्त्रों को बोल के पश्चात् वर, वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के उठावे और उसको साथ लेके, जो ( कलश ) कुंड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था उसको वही पुरुष, जो कलश के पास बैठा था, वर वधू के साथ २ [ उसी कलश को ] ले चले, यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके:—

* हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे ( इन्द्राग्नी ) विजुली और प्रसिद्ध अग्नि ( द्यावापृथिवी ) सूर्य और भूमि ( मातरिश्वा ) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा ( भगः ) ऐश्वर्य ( अश्विना ) सद्वैद्य और सत्योपदेशक ( उभा ) दोनों ( बृहस्पतिः ) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा ( मरुतः ) सभ्य मनुष्य ( ब्रह्म ) सब से बड़ा परमात्मा और ( सोमः ) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधीगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे ( इमां, नारीम् ) इस मेरी स्त्री को ( प्रजया ) प्रजा से बढ़ाया करते हैं वैसे तुम भी ( वर्धयन्तु ) बढ़ाया करो जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी जैसे ये दोनों मिल के प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥

† हे कल्याणक्रोड़े जैसे ( मनसा ) मन से ( कुलायम् ) कुल की वृद्धि को ( पश्यन् ) देखता हुआ ( अहम् ) मैं ( अस्याः ) इस तेरे ( रूपम् ) रूप को ( विष्यामि ) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं वैसे यह तू मेरी वधू ( मयि ) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को ( वेदत् ) प्राप्त होवे जैसे मैं ( मनसा ) मन से भी इस तुझ वधू के साथ ( स्तेयम् ) चोरी को ( उदमुच्ये ) छोड़ देता हूं और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से ( नाद्मि ) भोग नहीं करता हूं ( स्वयम् ) आप ( श्रन्थानः ) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी ( वरुणस्य ) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के ( पाशान् ) बन्धनों को दूर करता रहूं वैसे ( इत् ) ही यह वधू भी किया करे इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ॥

**ओं अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्* ॥ १७ ॥ पार० कां० १। कं० ६ ॥**

इन प्रतिज्ञा मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके, पश्चात् वर, वधू के पीछे रह के वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़ के दोनों खड़े रहें; और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके बैठे वैसे तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रक्खी थी उसको वायें हाथ में ले के दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवा के पत्थर की शिला पर चढ़वावे और उस समय वर—

---

* हे वधू जैसे ( अहम् ) मैं ( अमः ) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला ( अस्मि ) होता हूं वैसे ( सा ) सो ( त्वम् ) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी ( असि ) है जैसे ( अहम् ) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को ( अमः ) ग्रहण करता हूं वैसे ( सा ) सो मैंने ग्रहण की हुई ( त्वम् ) तू मुझ को भी ग्रहण करती है ( अहम् ) मैं ( साम ) सामवेद के तुल्य प्रशंसित ( अस्मि ) हूं हे वधू ! तू ( ऋक् ) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है ( त्वम् ) तू ( पृथिवी ) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं ( द्यौः ) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं वह तू और मैं ( तावेव ) दोनों ही ( विवहावहै ) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें ( सह ) साथ मिल के ( रेतः ) वीर्य को ( दधावहै ) धारण करें ( प्रजाम् ) उत्तम प्रजा को ( प्रजनयावहै ) उत्पन्न करें ( बहून् ) बहुत ( पुत्रान् ) पुत्रों को ( विन्दावहै ) प्राप्त होवें ( ते ) वे पुत्र ( जरदष्टयः ) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त ( सन्तु ) रहें ( संप्रियौ ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न ( रोचिष्णू ) दूसरे में रुचियुक्त एक ( सुमनस्यमानौ ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए ( शतम् ) सौ ( शरदः ) शरदृतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से ( पश्येम ) देखते रहें ( शतं, शरदः ) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से ( जीवेम ) जीते रहें और ( शतं, शरदः ) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को ( शृणुयाम ) सुनते रहें ॥

ओं आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव । अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

इस मन्त्र को बोले तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे तत्पश्चात् वधू की मा वा भाई जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़ के खड़ा रहा हो वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके जो वधू वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार ले के वर वधू की एकत्र की हुई अंजलि में धाणी डाले पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ासा घी सिंचन करे पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमा के—

ओं अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्यं * च संवदनं * तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ३ ॥ पार० का० १ । कं० ६ ॥

इन तीन मन्त्रों में एक २ मन्त्र से एक २ वार थोड़ी २ धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित इन्धन पर दे के वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥ १ ॥ पार० कां० १ । कं० ७ ॥

* पारस्कर में तथा सं० १९३३ की संस्कारविधि में "तुभ्य" और "संवननम्" पाठ है ।

इस मन्त्र को बोल के अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के वर––

**ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३८॥ ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमवदीक्षामयष्ट। कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥ २॥ मं० ब्रा० १। २। ५ *॥**

इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहैं, तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर पुनः दोवार इसी प्रकार अर्थात् सब मिल के ४ (चार) परिक्रमा करके अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में (थोड़ा ठहरे रह के उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में) पूर्वाभिमुख वधू वर खड़े रहें। पश्चात् वधू की मा अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे पश्चात्––

**ओं भगाय स्वाहा †। इदं भगाय–इदन्न मम॥**

इस मन्त्र को बोल के प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे। पश्चात् वर, वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठ के––

**ओं प्रजापतये स्वाहा ‡॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम॥**

इस मन्त्र को बोल के स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे तत्पश्चात् एकान्त में जा के वधू के बंधे हुए केशों को वर––

* तथा गोभिल गृ० प्रपा० २। खं० २। सू० ६॥

† पारस्कर के अनुसार यह आहुति वधू देती है। कां० १। कं० ७॥

‡ पारस्कर कां० १। कं० ७॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः । ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि ॥ १ ॥ प्रेतो मुञ्चामि नामतस्सुबद्धाममुतस्करम् । यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सती ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २४ । २५ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोल के प्रथम वधू के केशों को छोड़ना, तत्पश्चात् सभामण्डप में आके सप्तपदी विधि का आरम्भ करे, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी इसे जोड़ा कहते हैं। वधू वर दोनों जने आसन पर से उठके वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़ के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें, तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रख के दोनों समीप २ उत्तराभिमुख खड़े रहें तत्पश्चात् वर—

मासव्येन दक्षिणमतिक्राम ।

ऐसा बोल के वधू को उसका दक्षिण पग उठवा के चलने के लिये आज्ञा देवे और—

ओं इषे एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोल के वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग * चले और चलावे ।

ओं ऊर्ज्जे द्विपदी भव० † ॥ इस मन्त्र से दूसरा ॥

* इस पग धरने की विधि ऐसी है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ा के धरे तत्पश्चात् दूसरे बांये पग को उठा के जमणे पग की पटली तक धरे अर्थात् जमणे पग के थोड़ासा पीछे बायां पग रक्खे इसी को एक पगला गिणना, इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी अर्थात् एक २ मन्त्र से एक २ पग ईशान दिशा की ओर धरना ॥

† जो भव के आगे मन्त्र में पाठ है सो छः मन्त्रों से इस भव पद के आगे पूरा बोल के पग धरने की क्रिया करनी ॥

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ॥

ओं मयोभवाय * चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ॥

ओं प्रजाभ्यः * पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ॥

ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा और—

ओं सखे सप्तपदी * भव० ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र से सातवां पगला चलना । इस रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चला के वधू वर दोनों गांठ बन्धे हुए शुभासन पर बैठें । तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को ले के यज्ञकुण्ड की दक्षिण की ओर में बैठाया था वह पुरुष उस पूर्वस्थापित जलकुम्भ को ले के वधू वर के समीप आवे और उसमें से थोड़ासा जल ले के वधू † वर के मस्तक पर छिटकावे और वर—

ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्ज्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ तस्मा अरंङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ६ । मं० १–३ ॥ ओं आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ‡ ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वधू वर वहां से उठ के—

* वैदिकयन्त्रालय, सं० १९५२ में मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्र के पृ० ११३ में "मयोभवाय" के स्थान में "मायोभवाय" "प्रजाभ्यः" के स्थान में "पशुभ्यः" तथा "सप्तपदी" के स्थान में "सप्तपदा" पाठ है ॥

† पारस्कर गृह्यसूत्र में केवल वधू के मस्तक पर जल छिटकने का विधान है । कां० १ । कं० ८ । वधू वर के स्थान में वर, वधू ऐसा पाठ कर देने से पारस्कर के अनुकूलता होजाती है ॥

‡ पारस्कर कां० १ । कं० ८ ॥

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥ य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के सूर्य का अवलोकन करें। तत्पश्चात् वर, वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ ले के उससे वधू का हृदय स्पर्श करके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् * ॥ पार० कां० १ । कं० ८ ॥

इस मन्त्र को बोले, और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले † ॥

तत्पश्चात् वर, वधू के मस्तक पर हाथ धरकेः—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन ॥ ऋ० मण्ड० १० । सू० ८५ । मं० ३३ ॥

---

* हे वधू ! ( ते ) तेरे ( हृदयम् ) अन्तःकरण और आत्मा को ( मम ) मेरे ( व्रते ) कर्म के अनुकूल ( दधामि ) धारण करता हूं ( मम ) मेरे ( चित्तमनु ) चित्त के अनुकूल ( ते ) तेरा ( चित्तम् ) चित्त सदा ( अस्तु ) रहे ( मम ) मेरी ( वाचम् ) वाणी को तू ( एकमनाः ) एकाग्रचित्त से ( जुषस्व ) सेवन किया कर ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा ( त्वा ) तुझ को ( मह्यम् ) मेरे लिये ( नियुनक्तु ) नियुक्त करे ॥

वैसे ही हे प्रियवीर स्वामिन् ! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का-जो कुछ मैं आप से कहूं उसका-सेवन सदा किया कीजिये। क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है। जैसे मुझको आप के आधीन किया है। अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रियभाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ॥

इस मन्त्र को बोल के कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग—

**ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥**

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें । तत्पश्चात् वधू वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठ के पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे दोनों ( ओं यदस्य कर्मणो० ) इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २३ में लिखे—

**ओं भूरग्नये स्वाहा ॥**

इत्यादि चार मन्त्रों से एक २ से एक २ आहुति करके ४ ( चार ) आज्याहुति देवें और इस प्रमाणे विवाह के विधि पूरे हुए पश्चात् दोनों जने आराम अर्थात् विश्राम करें । इस रीति से थोड़ासा विश्राम करके विवाह की उत्तर विधि करें । यह उत्तरविधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम से बना रक्खा हो वहां जाके करनी । तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें उस समय वधू वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें और पृष्ठ २० में लि० अग्न्याधान ( ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ० ) इस मन्त्र से करें । यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें । ( ओं अयन्त इध्म० ) इत्यादि ४ मन्त्रों से समिदाधान करके जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे—

**ओं अग्नये स्वाहा ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० १० । सू० १३ ॥**

इत्यादि ४ ( चार ) मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे—

**ओं भूरग्नये स्वाहा ॥**

इत्यादि ४ ( चार ) मन्त्रों से ४ ( चार ) व्याहृति आहुति ये सब मिल के ८ (आठ) आज्याहुति देवें । तत्पश्चात् प्रधान होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से:—

**ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु * च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै–इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि० ॥ २ ॥ ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि० ३ ॥**

**ओं आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि० ॥ ४ ॥ ओं ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि० ॥ ५ ॥ ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै–इदन्न मम ॥ ६ ॥ मं० ब्रा० १ । ३ । १–६ ॥**

ये छः मन्त्र हैं इनमें से एक २ मन्त्र बोल छः आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे—

**ओं भूरग्नये स्वाहा**

इत्यादि ४ ( चार ) व्याहृति मन्त्रों से ४ ( चार ) आज्याहुति देके वधू वर वहां से उठ के सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें । तत्पश्चात् वर—

**ध्रुवं पश्य**

ऐसा बोलके वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे † और वधू वर से बोले कि म—

**पश्यामि**

ध्रुव क तारे को देखती हूं । तत्पश्चात् वधू [ बोले ]

---

* सं० १९४१ की संस्कारविधि में "पक्ष्मस्वारोकेषु" पाठ है ॥

† हे वधू वा वर जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है इसी प्रकार आप और मैं एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें ॥

**ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् ( अमुष्य * असौ ) गोभिलगृ० प्र० २। खं० ३। सू० ८॥**

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्—

**अरुन्धतीं पश्य॥ गोभिलगृ० प्र० २। खं० ३। सू० ६॥**

ऐसा वाक्य बोल के वर, वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावे और वधू-

**पश्यामि**

ऐसा कहके—

**ओं अरुन्धत्यसि † रुद्धाहमस्मि ( अमुष्य ‡ असौ ¶ )**

इस मन्त्र को बोल के (वर) वधू की ओर देख के वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

---

* ( अमुष्य ) इस पद के स्थान में षष्ठी विभक्त्यन्त पति का नाम बोलना, जैसे-शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मणः" ऐसा और ( असौ )[1] इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमा विभक्त्यन्त बोल के इस मन्त्र को पूरा बोले, जैसे "भूयासं शिवशर्मणस्ते सौभाग्यदाहम्" इस प्रकार दोनों पद जोड़ के बोले॥

† "अरुन्धत्यसि" इतना पाठ गोभिल में नहीं॥

‡ ( अमुष्य ) इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठ्यन्त और ( असौ ) इसके स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़ कर बोले "[2]हे स्वामिन्! सौभाग्यदा ( अहम् ) मैं ( अमुष्य ) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी ( पतिकुले ) आपके कुल में ( ध्रुवा ) निश्चल जैसे कि आप ( ध्रुवम् ) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति ( असि ) हैं वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी ( भूयासम् ) होऊं॥"

¶ गोभिल गृ० प्र० २। खं० ३। सू० १०॥

---

१ वाक्य।

२ "हे स्वामिन्!" से लेकर "होऊं" तक का पाठ पृ० १४६ की प्रथम पंक्ति के "अमुष्य असौ" के फुट नोट की समाप्ति पर जानो॥

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् * ॥ मं० ऋ० १ । ६ । ६ ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम् † ॥ पार० कां० १ ॥ कं० ८ ॥

इन दोनों मन्त्रों को बोले । पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख हो के कुण्ड के समीप बैठें और पृ० १९ में लिखेः--

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ आचमन करके तीन २ आचमन दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि

* हे वरानने ! जैसे ( द्यौः ) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् ( ध्रुवा ) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल जैसे ( पृथिवी ) भूमि अपने स्वरूप में ( ध्रुवा ) स्थिर जैसे ( इदम् ) यह ( विश्वम् ) सब ( जगत् ) संसार प्रवाहस्वरूप में ( ध्रुवम् ) स्थिर है जैसे ( इमे ) ये प्रत्यक्ष ( पर्वताः ) पहाड़ ( ध्रुवासः ) अपनी स्थिति में स्थिर हैं वैसे ( इयम् ) यह तू मेरी ( स्त्री ) ( पतिकुले ) मेरे कुल में ( ध्रुवा ) सदा स्थिर रह ॥

† हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप ( ध्रुवम् ) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर ( असि ) हैं या जैसे मैं ( त्वा ) आपको ( ध्रुवम् ) स्थिर दृढ़ ( पश्यामि ) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा क्योंकि मेरे मन के अनुकूल ( त्वा ) आपको ( बृहस्पतिः ) परमात्मा ( अदात् ) समर्पित कर चुका है वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके ( शतं, शरदः ) सौ वर्ष पर्यन्त ( सम्, जीव ) जीविये तथा हे वरानने पत्नी ( पोष्ये ) धारण और पालन करने योग्य ( मयि ) मुझ पति के निकट ( ध्रुवा ) स्थिर ( एधि ) रह ( मह्यम् ) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है तू ( मया ) मुझ ( पत्या ) पति के साथ ( प्रजावती ) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उलटे विरोध में न चलें ॥

को प्रदीप्त करके पृष्ठ १५ में लिखे० घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें । पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे "ओम् अयन्त इध्म०" इत्यादि चार मन्त्रों से समिधा होम दोनों जने करके पश्चात् पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ) और व्याहृति आहुति चार दोनों मिलके ८ ( आठ ) आज्याहुति वर वधू देवें । तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात उसको एक पात्र में निकाल के उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा थोड़ा भात दोनों जने ले के—

**ओं अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम । ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्न मम । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः-इदन्न मम । ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये-इदन्न मम ॥**

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक २ करके ४ ( चार ) स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे ( ओं यदस्य कर्मणो० ) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लि० प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ ( चार ) और पृष्ठ २४–२५ में लिखे० अष्टाज्याहुति ८ ( आठ ) दोनों मिलके १२ ( बारह ) आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल के उस पर घृत सेचन और दक्षिण हाथ रख के:—

**ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना । बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते * ॥ १ ॥ ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम । यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव † ॥ २ ॥ ओं अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन**

---

* हे वधू वर ! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे ( ते ) तेरे ( हृदयम् ) हृदय ( च ) और ( मनः ) मन ( च ) और चित्त आदि को ( सत्यग्रन्थिना ) सत्यता की गांठ से ( बध्नामि ) बांधती वा बांधता हूं ॥

† हे वर हे स्वामिन् वा हे पत्नी ! ( यदेतत् ) जो यह ( तव ) तेरा ( हृद-

वध्नामि त्वा असौ * ॥ ३ ॥ मं० ब्रा० १ । ३ । ८–१० ॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जप के वर उस भात में से प्रथम थोड़ासा भक्षण करके जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे और जब वधू उसको खाचुके तब वधू वर यज्ञमण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २६ में लि० प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ४–१२ में लि० प्रमाणे ईश्वर की स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट दुग्ध घृतादि सहित भोजन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ ४६ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना। तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर सत्कार करके विदा कर देवें। तत्पश्चात् दश घटिका रात्रि जाय तब वधू और वर पृथक् २ स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें, और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करें । यदि चौथे दिवस कोई अड़चल आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ (रह) कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो और पृष्ठ ३० में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें। तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वरपक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठा के बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता पिता के घर को छोड़ते समय आंख में अश्रु भर लावे तो—

---

यम्) आत्मा वा अन्तःकरण है (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥

* (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करने हारा (षड्विंशः) २६ (छब्बीसवां) तत्त्व (अन्नम्) अन्न है (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (वध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः । वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ ऋ० मं० १० । सू० ४० । मं० १० ॥

इस मन्त्र को वर बोले और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे उस समय में वरः—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन । गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ १ ॥ सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् । आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २६, २० ॥

इन दो मन्त्रों को बोल के रथ को चलावे । यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोल के नौका पर बैठे—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ऋ० मं० १० । सू० ५३ । मं० ८ ॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोल के नाव से उतरे । पुनः इसी प्रकार मार्ग चार में मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयंकर स्थान, ऊंचे नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े २ वृक्षों का झुंड वा श्मशानभूमि आवे तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती । सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३२ ॥

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् वधू वर जिस रथ में बैठके जाते हों उस रथ का कोई अंग टूट जाय अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देख के निवास करना और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके उसमें पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना। पश्चात् जब वधू वर का रथ वर के घर के आगे आपहुंचे तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सामने आकर वधू का हाथ पकड़ के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में लेजावे सभामण्डप द्वारे आते ही वर वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

**सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं वि परेतन॥ १॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ३३॥**

इस मन्त्र को बोले और आये हुए लोगः—

**ओं सौभाग्यमस्तु, ओं शुभं भवतु**

इस प्रकार आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वरः—

**इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० २७॥**

इस मन्त्र को बोल के वधू को सभामण्डप में ले जावे। तत्पश्चात् वधू वर पूर्व स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें, उस समय वरः—

**ओं इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणोपि पूषा निषीदतु॥ अथर्व० कां० २०। सू० १२७॥**

इस मन्त्र को बोल के यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे। तत्पश्चात् पृ० १९ में लि०—

**ओं अमृतोपस्तरणमसि**

इत्यादि तीन मन्त्रों से एक २ से एक २ करके तीन २ आचमन करें। तत्पश्चात् पृ० २० में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधाचयन अग्न्याधान करें। जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो तब उस पर घृत सिद्ध करके पृ० २१ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २२—२५ में लिखे प्रमाणे अघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) अष्टाज्याहुति ८ (आठ) सब मिल के १६ (सोलह) आज्याहुति वधू वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें॥

**ओं इह धृतिः स्वाहा॥ इदमिह धृत्यै—इदन्न मम। ओं इह स्वधृतिः स्वाहा॥ इदमिह स्वधृत्यै—इदन्न मम। ओं इह रन्तिः स्वाहा॥ इदमिह रन्त्यै—इदन्न मम। ओं इह रमस्व स्वाहा॥ इदमिह रमाय—इदन्न मम। ओं मयि धृतिः स्वाहा॥ इदं मयि धृत्यै—इदन्न मम। ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा॥ इदं मयि स्वधृत्यै—इदन्न मम। ओं मयि रमः स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम। ओं मयि रमस्व स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम। मं० ब्रा० १।६।१।४॥**

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ करके ८ (आठ) आज्याहुति देकेः—

**ओं आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे * स्वाहा॥ इदं**

* हे वधू (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभगुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे (समनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्री लोग सब

सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा * ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि † स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं साम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ‡ स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्न मम ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १०। अ० ७। सू० ८५। मं० ४३-४६ ॥

कुटुम्बियों को आनन्द ( अदुः ) देवें उनमें से एक तू हे वरानने ( पतिलोकम् ) पति के घर वा सुख को ( आविश ) प्रवेश वा प्राप्त हो ( नः ) हमारे ( द्विपदे ) पिता आदि मनुष्यों के लिये ( शम् ) सुखकारिणी और ( चतुष्पदे ) गौ आदि को ( शम् ) सुखकर्त्री ( भव ) हो ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १२६ में लिखे प्रमाणे जानना ॥

† ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे ( मीढ्वः ) वीर्य सेचन करनेहारे ( इन्द्र ) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन्! ( त्वम् ) तू ( इमाम् ) इस वधू को ( सुपुत्राम् ) उत्तम पुत्रयुक्त ( सुभगाम् ) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली ( कृणु ) कर ( अस्याम् ) इस वधू में ( दश ) दश ( पुत्रान् ) पुत्रों को ( आ, धेहि ) उत्पन्न कर अधिक नहीं और हे स्त्री! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और ( एकादशम् ) ग्यारहवें ( पतिम् ) पति को प्राप्त होकर सन्तोष ( कृधि ) कर यदि इससे आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना तथा (पतिमेकादशं, कृधि) इस पद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा ने की है वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥

‡ हे वरानने! तू ( श्वशुरे ) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है उसमें प्रीति

इन ४ ( चार ) मन्त्रों से एक २ से एक २ करके ४ ( चार ) आज्याहुति दे के पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत होमाहुति १ ( एक ) व्याहृति आज्याहुति ४ ( चार ) और प्राजापत्याहुति १ ( एक ) ये सब मिलके ६ ( छः ) आज्याहुति देकर—

**समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ । सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ** * ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४७ ॥

इस मन्त्र को बोल के दोनों दधिप्राशन करें । तत्पश्चात्—

**अहं भो अभिवादयामि** † ॥

इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर, वर की माता पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें । पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठ के पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके उसी समय पृष्ठ ४—८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी । उस समय कार्यार्थ आए हुए सब स्त्री पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें तथा वधू वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

---

करके ( सम्राज्ञी ) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त ( भव ) हो ( श्वश्र्वाम् ) मेरी माता जो कि तेरी सासु है उसमें प्रेमयुक्त हो के उसी की आज्ञा में ( सम्राज्ञी ) सम्यक् प्रकाशमान ( भव ) रहा कर ( ननान्दरि ) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है उसमें भी ( सम्राज्ञी ) प्रीतियुक्त और ( देवृषु ) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं उनमें भी ( सम्राज्ञी ) प्रीति से प्रकाशमान ( अधि, भव ) अधिकारयुक्त हो अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्त्ता कर ॥

* इस मन्त्र का अर्थ पृ० १२८ में लिखित समझ लेना ॥

† इससे उत्तम ( नमस्ते ) यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिये नित्यप्रति स्त्री पुरुष, पिता पुत्र अथवा गुरु शिष्य आदि के लिये है । प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब २ मिलें तब २ इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ॥

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥ आश्वला० गृ० अ० १ । कं० ८ । सू० १५ ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें। तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों अथवा उनके अभाव में यदि वधू वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृष्ठ ८–१० में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें। पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आए हुए स्त्री पुरुष सब—

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें। तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके तो वधू वर क्षार आहार और विषय तृष्णा रहित व्रतस्थ होकर पृ० २७–३९ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिये आया हो तो वह जहां जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो उस स्थान में गर्भाधान करे। पुनः अपने घर आ के पति सासु श्वशुर ननन्द देवर देवरानी ज्येष्ठ जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा अर्थात् सत्कार करें, सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें, और मधुरवाणी वस्त्र आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें, तथा वधू सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे, तथा वर भी स्त्री की सेवा, प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः

# अथ

# गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ॥

**अत्र प्रमाणानि–सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ॥ ११ ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ६, ४२ ॥**

अर्थः–( सोमः ) सुकुमार शुभगुणयुक्त ( वधूयुः ) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी ( अश्विना ) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त ( अभवत् ) होवें और ( उभा ) दोनों ( वरा ) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाववाले ( आस्ताम् ) होवें ऐसी ( यत् ) जो ( सूर्याम् ) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त ( पत्ये ) पति के लिये ( मनसा ) मन से ( शंसन्तीम् ) गुण कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री ( सविता ) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा ( ददात् ) देता है अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥ हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है ( इहैव ) इसी में ( स्तम् ) तत्पर रहो ( मा, वियौष्टम् ) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ ( विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके

सम्पूर्ण आयु जो १०० ( सौ ) वर्षों से कम नहीं है उसको प्राप्त होओ पूर्वोक्त धर्म रीति से ( पुत्रैः ) पुत्रों और ( नप्तृभिः ) नातियों के साथ ( क्रीडन्तौ ) क्रीड़ा करते हुए ( स्वस्तकौ ) उत्तम गृह वाले ( मोदमानौ ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥ २ ॥

**सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ ४ ॥ या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥ आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० २६ । २७ । २६ । ३१ ॥**

**अर्थः**—हे वरानने ! तू ( सुमङ्गली ) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा ( प्रतरणी ) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी ( गृहाणाम् ) गृहकार्यों में चतुर और तत्पर रहकर ( सुशेवा ) उत्तम सुखयुक्त होके ( पत्ये ) पति ( श्वशुराय ) श्वशुर और ( श्वश्र्वै ) सासु के लिये ( शम्भूः ) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई ( इमान् ) इन ( गृहान् ) वरों में सुखपूर्वक ( प्रविश ) प्रवेश कर ॥ ३ ॥ हे वधू ! तू ( श्वशुरेभ्यः ) श्वशुरादि के लिये ( स्योना ) सुखदाता ( पत्ये ) पति के लिये ( स्योना ) सुखदाता और ( गृहेभ्यः ) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये ( स्योना ) सुखदायक (भव) हो और ( अस्यै ) इस (सर्वस्यै) सब ( विशे ) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और ( एषाम् ) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर ( भव ) हो ॥ ४ ॥ ( याः ) जो ( दुर्हार्दः ) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा ( युवतयः ) ज्वान स्त्रियां ( च ) और ( याः ) जो ( इह ) इस स्थान में ( जरतीः ) बुड्ढी वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों वे ( अपि ) भी ( अस्यै ) इस वधू को ( नु ) शीघ्र ( वर्चः ) तेज ( सं, दत्त ) देवें ( अथ ) इसके पश्चात् ( अस्तम् ) अपने २ घर को ( विपरेतन ) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥ हे वरानने ! तू ( सुमनस्यमाना ) प्रसन्नचित्त

होकर ( तल्पम् ) पर्यङ्क पर ( आरोह ) चढ़ के शयन कर और ( इह ) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर ( अस्मै ) इस ( पत्ये ) पति के लिये ( प्रजां, जनय ) प्रजा को उत्पन्न कर ( सुबुधा ) सुन्दर ज्ञानी ( बुध्यमाना ) उत्तम शिक्षा को प्राप्त ( इन्द्राणीव ) सूर्य की क्रांति के समान तू ( उषसः ) उषःकाल के ( अग्रा ) पहिली ( ज्योतिः ) ज्योति के तुल्य ( प्रतिजागरासि ) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः । सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ७ ॥ सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः । मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥ ८ ॥ तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति । या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥ ९ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ३२ । ३७ । ३८ ॥

**अर्थः**—हे सौभाग्यप्रदे ! ( नारि ) तू जैसे ( इह ) इस गृहाश्रम में ( अग्रे ) प्रथम ( देवाः ) विद्वान् लोग ( पत्नीः ) उत्तम स्त्रियों को ( न्यपद्यन्त ) प्राप्त होते हैं और ( तनूभिः ) शरीरों से ( तन्वः ) शरीरों को ( समस्पृशन्त ) स्पर्श करते हैं वैसे ( विश्वरूपा ) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी ( महित्वा ) सत्कार को प्राप्त हो के ( सूर्येव ) सूर्य की कांति के समान ( पत्या ) अपने स्वामी के साथ मिलके ( प्रजावती ) प्रजा को प्राप्त होनेहारी ( संभव ) अच्छे प्रकार हो ॥ ७ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम ( पितरौ ) बालकों के जनक ( ऋत्विये ) ऋतु समय में सन्तानों को ( संसृजेथाम् ) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो ( माता ) जननी ( च ) और ( पिता ) जनक दोनों ( रेतसः ) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे ( भवाथः ) हूजिये । हे पुरुष ( एनाम् ) इस ( योषाम् ) अपनी स्त्री को ( मर्य, इव ) प्राप्त होनेवाले पति के समान ( अधि, रोहय ) सन्तानों से बढ़ा और दोनों ( इह ) इस गृहाश्रम में मिल के ( प्रजाम् ) प्रजा को ( कृण्वाथाम् ) उत्पन्न करो ( पुष्यतम् ) पालन पोषण करो और पुरुषार्थ से ( रयिम् ) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥ हे ( पूषन् ) वृद्धिकारक पुरुष ! ( यस्याम् ) जिसमें

( मनुष्याः ) मनुष्य लोग ( वीजम् ) वीर्य को ( वपन्ति ) बोते हैं ( या ) जो ( नः ) हमारी ( उशती ) कामना करती हुई ( ऊरू ) ऊरू को सुन्दरता से ( विश्रयाति ) विशेषकर आश्रय करती है ( यस्याम् ) जिसमें ( उशन्तः ) सन्तानों की कामना करते हुए हम ( शेपः ) उपस्थेन्द्रिय का ( प्रहरेम ) प्रहरण करते हैं ( ताम् ) उस ( शिवतमाम् ) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये ( एरयस्व ) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ । सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ १० ॥ इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ११ ॥ जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ १२ ॥ अ० कां० १४ । सू० २ । मं० ४३ । ६४ । ७२ ॥

अर्थः—हे स्त्री और पुरुष ! जैसे सूर्य ( विभातीः ) सुन्दर प्रकाशयुक्त ( उषसः ) प्रभात वेला को प्राप्त होता है वैसे ( स्योनात् ) सुख से ( योनेः ) घर के मध्य में ( अधि, बुध्यमानौ ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे सदा ( हसामुदौ ) हास्य और आनन्दयुक्त ( महसा ) बड़े प्रेम से ( मोदमानौ ) अत्यन्त प्रसन्न हुए ( सुगू ) उत्तम चाल चलन से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे ( सुपुत्रौ ) उत्तम पुत्रवाले ( सुगृहौ ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्री युक्त ( जीवौ ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए ( तराथः ) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥ १० ॥ हे ( इन्द्र ) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप ( इह ) इस संसार में ( इमौ ) इन स्त्री पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिससे कोई स्त्री पुरुष पृ० ८९–९३ में लि० प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे ( संनुद ) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये जिससे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके ( दम्पती ) जाया और पति ( चक्रवाकेव ) चकवा चकवी के समान एक दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से ( प्रजया ) उन्नत हुई प्रजा से ( एनौ ) ये दोनों ( स्वस्तकौ ) सुखयुक्त हो के ( विश्वम् )

सम्पूर्ण १०० वर्ष पर्यन्त ( आयुः ) आयु को ( व्यश्नुताम् ) प्राप्त होवें ॥११॥ हे मनुष्यो ! जैसे ( सुदानवः ) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री पुरुष ( जनियन्ति ) पुत्रोत्पत्ति करते और ( पुत्रियन्ति ) पुत्र की कामना करते हैं वैसे ( नौ ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें तथा ( अरिष्टासू ) बल प्राण का नाश न करनेहारे होकर ( बृहते ) बड़े ( वाजसातये ) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये ( सचेवहि ) कटिवद्ध सदा रहें जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥ १२ ॥

प्र बुंध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वायं शतशारदाय । गृहान् गंच्छ गृहपंत्नी यथासों दीर्घं त आयुंः सविता कृणोतु ॥ १३ ॥ अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७५ ॥ सहृंदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहंर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० १ ॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू ( शतशारदाय ) शतवर्ष पर्यन्त ( दीर्घायुत्वाय ) दीर्घकाल जीने के लिये ( सुबुधा ) उत्तम बुद्धियुक्त ( बुध्यमाना ) सज्ञान हो-कर ( गृहान् ) मेरे घरों को ( गच्छ ) प्राप्त हो और ( गृहपत्नी ) मुझ घर के स्वामी की स्त्री ( यथा ) जैसे ( ते ) तेरा ( दीर्घम् ) दीर्घकालपर्यन्त ( आयुः ) जीवन ( असः ) होवे वैसे ( प्रबुध्यस्व ) प्रकृष्टज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आशा को ( सविता ) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा ( कृणोतु ) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥ हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही [ वर्त्तमान ] करो जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् ( वः ) तुम्हारा ( सुहृदयम् ) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो ( सांमनस्यम् ) मन से सम्यक् प्रसन्नता और ( अविद्वेषम् ) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये ( कृणोमि ) स्थिर करता हूं तुम ( अघ्न्या ) हनन न करने योग्य गाय ( वत्सं,

जातमिव ) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे ( अन्योऽन्यम् ) एक दूसरे से ( अभि, हर्यत ) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ॥ १४ ॥

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥ १५ ॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० २ । ३ ॥**

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा ( पुत्रः ) पुत्र ( मात्रा ) माता के साथ ( संमनाः ) प्रीतियुक्त मन वाला ( अनुव्रतः ) अनुकूल आचरणयुक्त ( पितुः ) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला ( भवतु ) होवे वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्ता करो जैसे ( जाया ) स्त्री ( पत्ये ) पति की प्रसन्नता के लिये ( मधुमतीम् ) माधुर्यगुणयुक्त ( वाचम् ) वाणी को ( वदतु ) कहे वैसे पति भी ( शन्तिवान् ) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥ हे गृहस्थो ! तुम्हारे में ( भ्राता ) भाई ( भ्रातरम् ) भाई के साथ ( मा, द्विक्षन् ) द्वेष कभी न करे ( उत ) और ( स्वसा ) बहिन ( स्वसारम् ) बहिन से द्वेष कभी ( मा ) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु ( सम्यञ्चः ) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त ( सव्रताः ) समान गुण कर्म स्वभाववाले ( भूत्वा ) होकर ( भद्रया ) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ ( वाचम् ) सुखदायक वाणी को ( वदत ) बोला करो ॥ १६ ॥

**येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ४ ॥**

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर ( येन ) जिस प्रकार के व्यवहार से ( देवाः ) विद्वान् लोग ( मिथः ) परस्पर ( न, वियन्ति ) पृथक् भाव वाले नहीं होते ( च ) और ( नो, विद्विषते ) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते ( तत् ) वही कर्म ( वः ) तुम्हारे ( गृहे ) घर में ( कृण्मः ) निश्चित करता हूं ( पुरुषेभ्यः ) पुरुषों को ( संज्ञानम् ) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े ( ब्रह्म ) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ १८ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ५ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम ( ज्यायस्वन्तः ) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त ( चित्तिनः ) विद्वान् सज्ञान ( सधुराः ) धुरन्धर होकर ( चरन्तः ) विचरते और ( संराधयन्तः ) परस्पर मिल के धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए ( मा, वियौष्ट ) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो ( अन्यः ) एक ( अन्यस्मै ) दूसरे के लिये ( वल्गु ) सत्य मधुरभाषण ( वदन्तः ) कहते हुए एक दूसरे को ( एत ) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक ( संमनसः ) ऐकमत्य वाले ( वः ) तुम को ( कृणोमि ) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं इसको आलस्य छोड़ कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ १९ ॥ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ६, ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा ( प्रपा ) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार ( समानी ) एकसा हो ( वः ) तुम्हारा ( अन्नभागः ) खान पान ( सह ) साथ हुआ करो ( वः ) तुम्हारे ( समाने ) एक से ( योक्त्रे ) अश्वादि यान के जोते ( सह ) संगी हों और तुमको मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके ( युनज्मि ) नियुक्त करता हूं जैसे ( आराः ) चक्र के आरे ( अभितः ) चारों ओर से ( नाभिमिव ) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिल के ( अग्निम् ) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं वैसे ( सम्यञ्चः ) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिल के धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत)

(तथा) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवा, इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धस्वभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

**श्रमे॑ण तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तऋ॒ते श्रि॒ताः ॥ २१ ॥ स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता यश॑सा परीवृ॑ताः ॥ २२ ॥ स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ः पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ २३ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० १-३ ॥**

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनम्, लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ २४ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० ७ ॥

अर्थः-हे मनुष्यो ! तुम जो ( ओजः ) पराक्रम ( च ) और इसकी सामग्री ( तेजः ) तेजस्वीपन ( च ) और इसकी सामग्री ( सहः ) स्तुति निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन ( च ) और इसके साधन ( बलञ्च ) बल और इसके साधन ( वाक्, च ) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार ( इन्द्रियञ्च ) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता ( श्रीश्च ) लक्ष्मी सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं उनको तुम प्राप्त हो के इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २५ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रंश्च ॥ २६ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ २७ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । मं० ८ । ९ । १० ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको योग्य है कि ( ब्रह्म, च ) पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सब के उपकारक शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल ( क्षत्रञ्च ) विद्यादि उत्तम गुण युक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल ( राष्ट्रञ्च ) राज्य और उसका न्याय से पालन ( विशश्च ) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति ( त्विषिश्च ) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से ( यशश्च ) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो ( वर्चश्च ) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना ( द्रविणञ्च ) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना ( आयुः ) जीवन बढ़ाओ ( च ) और सब जीवन में

धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो ( रूपञ्च ) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो ( नाम, च ) नामकरण के पृष्ठ ५७-५८ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी (तथा) (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण (करो) और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और उसके युक्ताहार विहारादि साधन ( अपानश्च ) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री ( चक्षुश्च ) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान ( श्रोत्रञ्च ) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥ हे गृहस्थ लोगो ! ( पयश्च ) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन ( रसश्च ) घृत दूध मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार ( अन्नञ्च ) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये ( अन्नाद्यञ्च ) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि ( ऋतञ्च ) सत्य मानना और सत्य मनवाना ( सत्यञ्च ) सत्य बोलना और बुलवाना ( इष्टञ्च ) यज्ञ करना और कराना ( पूर्त्तञ्च ) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना ( प्रजा, च ) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी ( पशवश्च ) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० २ ॥**

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य ( इह ) इस संसार में शरीर से समर्थ हो के ( कर्माणि ) सत्कर्मों को ( कुर्वन्नेव ) करता ही करता ( शतं, समाः ) १०० ( सौ ) वर्ष पर्यन्त ( जिजीविषेत् ) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे । ( एवम् ) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए ( त्वयि ) तुझ ( नरे ) मनुष्य में ( इतः ) इस हेतु से ( अन्यथा ) उलटापनरूप ( कर्म ) दुःखद कर्म ( न लिप्यते ) लिप्यमान कभी

नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख ( नास्ति ) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥ पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं—

**भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳫस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥ य० अ० ३। मं० ३७। ४१ ॥**

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरे वा अपने के सम्बन्ध से ( भूर्भुवः स्वः ) शरीरिक, वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त हो के ( प्रजाभिः ) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ ( सुप्रजाः ) उत्तम प्रजायुक्त ( स्याम ) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से [सह वर्त्तमान] ( सुवीरः ) उत्तम वीरों [से] सहित होऊं। ( पोषैः ) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की ( पाहि ) रक्षा कीजिये। हे ( शंस्य ) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन्! आप ( मे ) मेरे ( पशून् ) पशुओं की ( पाहि ) रक्षा कीजिये। हे ( अथर्य ) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! ( मे ) मेरे ( पितुम् ) अन्न आदि की ( पाहि ) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥ हे ( गृहाः ) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से ( मा, बिभीत ) मत डरो ( मा, वेपध्वम् ) मत कम्पायमान होओ, ( ऊर्ज्जम् ) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को ( बिभ्रतः ) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग ( एमसि ) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति ( मनसा ) अन्तःकरण से ( मोद-

मानः ) आनन्दित ( सुमनाः ) प्रसन्नमन ( सुमेधाः ) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको, और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो ! ( वः ) तुम्हारे लिये ( ऊर्ज्जम् ) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य ( बिभ्रत् ) धारण करता हुआ तुम ( गृहान् ) गृहस्थों को ( आ, एमि ) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न हो के वर्त्ता करो ॥ ३ ॥

येषां॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः । गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४ ॥ उप॑हूता॒ऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअ॒जा॒वयः॑ । अ॒थो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः । क्षेमा॑य व॒ः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥ ५ ॥ यजु० अध्याय ३ । मं० ४२ । ४३ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! ( प्रवसन् ) परदेश को गया हुआ मनुष्य ( येषाम् ) जिनका ( अध्येति ) स्मरण करता है, ( येषु ) जिन गृहस्थों में ( बहुः ) बहुत ( सौमनसः ) प्रीति होती है उन ( गृहान् ) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग ( उप, ह्वयामहे ) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते हैं, ( ते ) वे गृहस्थ लोग ( जानतः ) उनको जाननेवाले ( नः ) हम लोगों को ( जानन्तु ) सुहृद् जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥ हे गृहस्थो ! ( नः ) अपने ( गृहेषु ) घरों में जिस प्रकार ( गावः ) गौ आदि उत्तम पशु ( उपहूताः ) समीपस्थ हों तथा ( अजावयः ) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु ( उपहूताः ) समीपस्थ हों ( अथो ) इसके अनन्तर ( अन्नस्य ) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम ( कीलालः ) अन्नादि पदार्थ ( उपहूतः ) प्राप्त होवे हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें । हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा ( इह ) इस गृहाश्रम में ( वः ) तुम्हारे ( क्षेमाय ) रक्षण तथा ( शान्त्यै ) निरुपद्रवता करने के लिये ( प्रपद्ये ) प्राप्त होता हूं । मैं और आप लोग प्रीति से मिल के ( शिवम् ) कल्याण ( शग्मम् ) व्यावहारिक सुख और ( शंयोः, शंयोः ) पारमार्थिक सुख को प्राप्त हो के अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें ॥ ५ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ६०, ६१ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ १ ॥ यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ६२ ॥

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ४ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ६ ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ५५–५८ ॥

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण भोजन वस्त्र आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥ जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं, और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां जानों उनकी सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५ ॥ जिस कुल में स्त्री लोग अपने २ पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥ जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एकवार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ८ ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ५९ ॥

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥ ८ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ९ ॥
मनु० अ० ५ । श्लो० १५० ॥

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे, तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र वस्त्र गृह आदि के संस्कार, और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ १० ॥
मनु० अ० ९ । श्लो २४ ॥

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने २ पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट होगईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट होजाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ११ ॥
मनु० अ० ९ । श्लो० २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ १३ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४ ॥
मनु० अ० ९ । श्लो० ७७ ॥

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी, घरों में स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ ११ ॥ हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है उसका निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ १२ ॥ सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है यह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥ १३ ॥ जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्त-

मान सिद्ध होता है वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह [ गृहस्थ के आश्रय से ] होता है ॥ १४ ॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥
सः संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ १६ ॥
मनु० अ० ३ । श्लो० ७८-७९ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥ १५ ॥ हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय * मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ १६ ॥ वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १८ ॥
मनु० अ० ६ । श्लो० ९० ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है । उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है वैसा, नहीं होता ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ २० ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ २१ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ३० ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े २ नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त हो के स्थिर होते हैं ॥ १८ ॥ यदि गृहस्थ हो के पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥ जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब आसन, निवास, शय्या पश्चाद्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ २० ॥ किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद और धर्म को न माने, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान, अतिथिवेषधारी बन के आवें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥ २१ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ २२ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० ८५ ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ २३ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २४ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २५ ॥
मनु० अ० ४ । श्लो० १७५, १७६ ॥

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार (तथा) गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी ( तथा ) मद्य को निकाल कर बेचनेहारे दशध्वज के समान वेश अर्थात् वेश्या, भडुआ, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक ( पूजारी ) आदि । और दशवेश के समान जो अन्यायकारी राजा होता है उनके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी भी न करें ॥ २२ ॥ गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता मूर्खता मिथ्यापन वा अधर्म न हो उस वेदोक्तधर्मसम्बन्धी जीविका को करे ॥ २३ ॥ किन्तु सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥२४॥ यदि बहुतसा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तर काल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ २६ ॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ २७ ॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ २८ ॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ २९ ॥
मनु० अ० १२ । श्लो० ११० ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १८ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ३१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० २६ ॥

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु जल मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥ २६ ॥ विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर, और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥ २७ ॥ किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥ २८ ॥ गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक ( नैयायिक ), तर्ककर्त्ता ( मीमांसा शास्त्रज्ञ ), नैरुक्त ( निरुक्तशास्त्रज्ञ ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् ( ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करे ॥ २९ ॥ और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखनेवाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है, चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥ ३० ॥ उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि

जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥ ३१ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३२ ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३३ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ३०, ३१ ॥

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ३४ ॥
मनु० अ० ८ । श्लो० १२८ ॥

अर्थः—जो राजा उत्तम सहाय रहित मूढ़ लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, विषयों में फंसा हुआ है उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३२ ॥ इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीति शास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ॥ ३३ ॥ जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दंड नहीं देता है वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥ ३४ ॥

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ३५ ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ३६ ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ३७ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ४७–४९ ॥

अर्थः—मृगया अर्थात् शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठट्ठा मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इनका देखना और वृथा इधर उधर घूमते फिरना ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥ ३५ ॥ और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देख के हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करड़ा दण्ड देना ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं। ये १८ ( अठारह ) दुर्गुण हैं इनको राजा अवश्य छोड़ देवे ॥ ३६ ॥ और जो इन कामज और क्रोधज १८ ( अठारह ) दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ ( अठारह ) और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं, इसलिये हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न करना, यदि भूल से हुआ हो तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को जो कि राजा के कुल का हो राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥ ३७ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ३८ ॥

मनु० अ० १२। श्लो० १०० ॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ३९ ॥

मनु० अ० ७। श्लो० ५४ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ४० ॥

मनु० अ० ७। श्लो० ६० ॥

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा जितेन्द्रिय न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधानपद का अधिकार देना अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥ ३८ ॥ और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों उन सात वा आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो ये सब मिल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राजकार्य सिद्ध होसके उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे ॥ ४० ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ४१ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० ६३ ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ४२ ॥
मनु० अ० ७ । श्लो० १०१ ॥

अर्थः—तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश काल जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ॥ ४१ ॥ तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दंड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और व्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ॥ ४२ ॥

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० ( दश ) बजे शयन और रात्रि के पहिले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म अर्थ का विचार किया करें, और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार औषधसेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके, इसके लिये निम्नलिखित मन्त्र हैंः—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम * ॥ १ ॥ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता । आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह † ॥ २ ॥ भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा

* हे स्त्री पुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग ( प्रातः ) प्रभात वेला में ( अग्निम् ) स्वप्रकाशस्वरूप ( प्रातः ) ( इन्द्रम् ) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त ( प्रातः ) ( मित्रावरुणा ) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् ( प्रातः ) ( अश्विना ) सूर्य चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है उस परमात्मा की ( हवामहे ) स्तुति करते हैं और ( प्रातः ) ( भगम् ) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त ( पूषणम् ) पुष्टिकर्त्ता ( ब्रह्मणस्पतिम् ) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे ( प्रातः ) ( सोमम् ) अन्तर्यामी प्रेरक ( उत ) और ( रुद्रम् ) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की ( हुवेम ) स्तुति प्रार्थना करते हैं वैसे प्रातःसमय तुम लोग भी किया करो ॥ १ ॥

† ( प्रातः ) पांच घड़ी रात्रि रहे ( जितम् ) जयशील ( भगम् ) ऐश्वर्य के दाता ( उग्रम् ) तेजस्वी ( अदितेः ) अन्तरिक्ष के ( पुत्रम् ) सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और ( यः ) जो कि सूर्यादि लोकों का ( विधर्त्ता ) विशेष करके धारण करनेहारा ( आध्रः ) सब ओर से धारणकर्त्ता ( यं, चित् ) जिस किसी का भी ( मन्यमानः ) जाननेहारा ( तुरश्चित् ) दुष्टों का भी दण्डदाता और ( राजा ) सब का प्रकाशक है ( यम् ) जिस ( भगम् ) भजनीय स्वरूप को ( चित् ) भी

ददन्नः । भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम * ॥ ३ ॥ उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम † ॥ ४ ॥ भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम । तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ‡ ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० १-५ ॥

( भक्षीति ) इस प्रकार सेवन करता हूं और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को ( आह ) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं उस मेरी उपासना किया और मेरी आज्ञा में चला करो इससे ( वयम् ) हमलोग उसकी ( हुवेम ) स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

* हे ( भग ) भजनीयस्वरूप ( प्रणेतः ) सब के उत्पादक सत्याचार में प्रेरक ( भग ) ऐश्वर्यप्रद ( सत्यराधः ) सत्य धन को देनेहारे ( भग ) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ( नः ) हम को ( इमाम् ) इस ( धियम् ) प्रज्ञा को ( ददत् ) दीजिये और उसके दान से हमारी ( उदव ) रक्षा कीजिये हे ( भग ) आप ( गोभिः ) गाय आदि और ( अश्वैः ) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को ( नः ) हमारे लिये ( प्रजनय ) प्रकट कीजिये, हे ( भग ) आपकी कृपा से हम लोग ( नृभिः ) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले ( प्र, स्याम ) अच्छे प्रकार होवें ॥ ३ ॥

† हे भगवन् ! आप की कृपा ( उत ) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग ( इदानीम् ) इस समय ( प्रपित्वे ) प्रकर्षता उत्तमता की प्राप्ति में ( उत ) और ( अह्नाम् ) इन दिनों के ( मध्ये ) मध्य में ( भगवन्तः ) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् ( स्याम ) होवें ( उत ) और हे ( मघवन् ) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ( सूर्यस्य ) सूर्यलोक के ( उदिता ) उदय में ( देवानाम् ) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप लोगों की ( सुमतौ ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा ( उत ) और सुमति में ( वयम् ) हम लोग ( स्याम ) सदा प्रवृत्त रहें ॥ ४ ॥

‡ हे ( भग ) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिससे ( तम् ) उस ( त्वा ) आप की ( सर्वः ) सब सज्जन ( इज्जोहवीति ) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं ( सः ) सो आप हे ( भग ) ऐश्वर्यप्रद ! ( इह ) इस संसार और ( नः ) हमारे गृहाश्रम में ( पुरएता ) अग्रगामी और आगे २ सत्य कर्मों में बढ़ानेहारे ( भव ) हूजिये और जिससे ( भगएव ) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी। तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जङ्गल में जा के योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आधघड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें। प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें। आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके:—

**ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ आश्वलायन गृ० सू० अ० १। कं० २४। सू० १२। २१। २२ ॥**

इन तीन मन्त्रों में से एक २ से एक २ आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आंख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके, हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के, यथाशक्ति रोके, पश्चात् धीरे २ भीतर लेके भीतर थोड़ासा रोके, यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके—

**ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६। मं० १२ ॥**

इस मन्त्र को एक वार पढ़ के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से

के होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिये (तेन) उसी हेतु से (देवाः, वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसंपन्न होके सब संसार के उपकार में तन मन धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम पार्श्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

**ओं वाक् वाक्** ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वामपार्श्व ॥

**ओं प्राणः प्राणः** ॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र ॥

**ओं चक्षुश्चक्षुः** ॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र ॥

**ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्** ॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र ॥

**ओं नाभिः** ॥ इससे नाभि ॥

**ओं हृदयम्** ॥ इससे हृदय ॥

**ओं कण्ठः** ॥ इससे कण्ठ ॥

**ओं शिरः** ॥ इससे मस्तक ॥

**ओं बाहुभ्यां यशोबलम्** ॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध और—

**ओं करतलकरपृष्ठे** ॥

इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करे ॥

**ओं भूः पुनातु शिरसि** ॥ इस मन्त्र से शिर पर ॥

**ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः** ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ॥

**ओं स्वः पुनातु कण्ठे** ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ॥

**ओं महः पुनातु हृदये** ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ॥

**ओं जनः पुनातु नाभ्याम्** ॥ इससे नाभि पर ॥

**ओं तपः पुनातु पादयोः** ॥ इससे दोनों पगों पर ॥

**ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि** ॥ इससे पुनः मस्तक पर ॥

**ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र** ॥

इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे। पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे। और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जायः—

**ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्॥ तैत्तिरीयारण्य० प्र० १०। अनु० २७॥**

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ (इक्कीस) प्राणायाम करे। तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे, और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे॥

**ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥ ऋ० मं० १०। सू० १९०॥**

इन मन्त्रों को पढ़ के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे॥

**ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो०॥ २॥ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो०॥ ३॥ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो०॥ ४॥ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो०॥ ५॥ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो०॥ ६॥ अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० १-६॥**

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना। तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ १॥ ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥ यजु० अ० १३। मं० ४६॥ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥ यजु० अ० ३३। मं० ३१॥ उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ३॥ यजु० अ० ३५। मं० १४॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥ यजु० अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके पृष्ठ ८२—८३ में लिखे० अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे० गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे, पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें, पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ ५॥ यजु० अ० १६। मं० ४१॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करें॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः

## अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष * अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, और पृष्ठ २२ में लिखे—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व।

इत्यादि ४ मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपा के, पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २२—२३ में लिखे आघारावाज्यभागाहुति चार देके, नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें:—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं सूर्या वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो।

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥ य० अ० ३। मं० ९, १० ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहिये:—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये, प्राणाय—इदन्न मम ॥ १ ॥

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न होसकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक २ मन्त्र को दो २ वार पढ़ के दो २ आहुति करे ॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय, व्यानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥ यजु० अ० ३२ । मं० १४ ॥ ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० ३० । मं० ३ ॥ ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयो-ध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ य० अ० ४० । मं० १६ ॥

इन आठ मन्त्रों से एक २ मन्त्र करके एक २ आहुति ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक २ वार पढ़के एक २ करके तीन आहुति देवे ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥ २ ॥

## अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे अर्थात् जीते हुए माता पिता आदि की यथावत् सेवा करनी पितृयज्ञ कहाता है ॥ ३ ॥

## अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओं अग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वा-

हा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं द्यावापृथिवीभ्याᳩं स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥ मनु० अ० ३ । श्लो० ८५, ८६ ॥

इन दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़ के जो कुछ पाक में बना हो उसकी दश आहुति करे। तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इससे पूर्व ॥

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इससे दक्षिण ॥

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इससे पश्चिम ॥

ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ इससे उत्तर ॥

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इससे द्वार ॥

ओं अद्भ्यो नमः ॥ इससे जल ॥

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इससे मूसल और ऊखल ॥

ओं श्रियै नमः ॥ इससे ईशान * ॥

ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इससे नैर्ऋत्य † ॥

ओं ब्रह्मपतये नमः । ओं वास्तुपतये नमः ॥ इससे मध्य ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ इनसे ऊपर ॥

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इससे पृष्ठ ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ इससे दक्षिण ॥ मनु० अ० ३ ॥ श्लो० ८७—९१ ॥

* "घर की छत में" ऐसा मनु में मिलता है। अ० ३ । श्लो० ८९ ॥

† "घर के पाद में" मनु० १ । ८९ ॥

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आजाय तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना। तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ १॥
मनु० अ० ३। श्लो० ९२॥

अर्थः—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे और वे छः भाग जिस २ के नाम हैं उस २ को देना चाहिये॥ ४॥

## अथातिथियज्ञः

पांचवां—जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना अतिथियज्ञ कहाता है। उसको नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री पुरुष प्रतिदिन करते रहें॥ ५॥

इसके पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें॥

**ओं अग्नये स्वाहा॥ ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ओं विष्णवे स्वाहा॥**

इन तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आज्याहुति ४ देनी, परन्तु इसमें इतना भेद है कि अमावास्या के दिनः—

**ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥** इस मन्त्र के बदले

ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोल के स्थालीपाक की आहुति देवे। इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १३,१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप, पृष्ठ २०–२१ में लिखे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ २२–२३ में लि० आघारावाज्यभागाहुति, और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जल सेचन करके, पृष्ठ ४–१२ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन शान्तिकरण भी यथायोग्य करें, और जब २ नवान्न आवे तब २ नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें। अर्थात् जब २ नवीन अन्न आवे तब २ शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें—

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने। ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके, पृष्ठ ४—२६ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके, प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार) और व्याहृति आहुति ४ (चार) तथा अष्टाज्याहुति ८ (आठ) ये सोलह आज्याहुति करके कार्यकर्त्ता—

**ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः। तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ १ ॥ ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे सर्वꣳसमृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै–इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳसा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै–इदन्न मम ॥ ५ ॥ पार० कां० २। कं० १७ ॥**

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ ( पांच ) आज्याहुति करके—

**ओं सीतायै स्वाहा । ओं प्रजायै स्वाहा । ओं शमायै स्वाहा । ओं भूत्यै स्वाहा ॥ पार० कां० २ । कं० १७ ॥**

इन ४ ( चार ) मन्त्रों से ४ ( चार ), और पृष्ठ २३ में लिखे (यदस्य०) मन्त्र से स्विष्टकृत् होमाहुति एक, ऐसे ५ ( पांच ) स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २३—२५ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति, व्याहृति आहुति ४ ( चार ) ऐसे १२ ( बारह ) आज्याहुति देके, पृष्ठ २६ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, और शान्तिकरण करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

## अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

शाला उसको कहते हैं जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं । इसके दो विषय हैं एक प्रमाण और दूसरा विधि । उसमें से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ॥

**अत्र प्रमाणानि—उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥ हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १, ७ ॥**

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे तो वह ( उपमिताम् ) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिसको देख के विद्वान् लोग सराहना करें, ( प्रतिमिताम् ) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों, ( अथो ) इसके अनन्तर ( परिमिताम् ) वह शाला चारों ओर के परिमाण से सम चौरस हो, ( उत ) और (शालायाः) शाला ( विश्ववारायाः ) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों, ( नद्धानि ) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो !

ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग ( विचृतामसि ) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥ उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, ( अग्निशालम् ) अग्निहोत्र का स्थान, ( पत्नीनाम् ) स्त्रियों के ( सदनम् ) रहने का ( सदः ) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने और सभा का ( सदः ) स्थान तथा स्नान भोजन ध्यान आदि का भी पृथक् २ एक २ घर बनावे, इस प्रकार की ( देवि ) दिव्य कमनीय ( शाले ) बनाई हुई शाला ( असि ) सुखदायक होती है ॥ २ ॥

**अन्तरा द्याञ्च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रतिगृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां प्रतिगृह्णामि तस्मै ॥ ३ ॥ ऊर्ज्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता । विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १५, १६ ॥**

अर्थः—उस शाला में ( अन्तरा ) भिन्न २ ( पृथिवीम् ) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों, ( च ) और ( द्याम् ) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे, ( च ) और ( यत् ) जो ( व्यचः ) उसकी व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्री ! ( ते ) तेरे लिये है ( तेन ) उसी से युक्त ( इमाम् ) इस ( शालाम् ) घर को बनाता हूं, तू इसमें निवास कर और मैं भी निवास के लिये इसको ( प्रतिगृह्णामि ) ग्रहण करता हूं, ( यत् ) जो उसके बीच में ( अन्तरिक्षम् ) पुष्कल अवकाश और ( रजसः ) उस घर का ( विमानम् ) विशेष मान परिमाण युक्त लंबी ऊंची छत्त और ( उदरम् ) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे ( तत् ) उसको ( शेवधिभ्यः ) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित ( अहम् ) मैं ( कृण्वे ) करता हूं, ( तेन ) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त ( शालाम् ) शाला को ( तस्मै ) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये ( प्रतिगृह्णामि ) ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥ जो ( शाले ) शाला ( ऊर्ज्जस्वती ) बहुत बलारोग्यपराक्रम को

बढ़ानेवाली और धन धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, ( पयस्वती ) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में ( मिता ) परिमाणयुक्त, ( निमिता ) निर्मित की हुई, ( विश्वान्नम् ) संपूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को ( बिभ्रती ) धारण करती हुई, ( प्रतिगृह्णतः ) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से ( मा, हिंसीः ) पीड़ित न करे वैसा घर बनाना चाहिये ॥

ब्रह्मणा शाला निर्मिता कविभिर्निमिता मिताम् इन्द्राग्नी । रक्षतां शालामृमृतौ सोम्यं सदः ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० १६ ॥

अर्थः—( अमृतौ ) स्वरूप से नाशरहित ( इन्द्राग्नी ) वायु और पावक ( कविभिः ) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने ( मिताम् ) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी ( निमिताम् ) बनाई हुई ( शालाम् ) शाला को और ( ब्रह्मणा ) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी ( निमिताम् ) बनाई ( शालाम् ) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों की (रक्षताम्) रक्षा करें । अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे । वह ( सोम्यम् ) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक ( सदः ) रहने के लिये उत्तम घर है । उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥ ५ ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते । अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २१ ॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! ( या ) जो ( द्विपक्षा ) दो पक्ष अथात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक २ शालायुक्त घर, अथवा ( चतुष्पक्षा ) जिसके पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक २ शाला और इनके मध्य में पांचवीं बड़ी शाला वा ( षट्पक्षा ) एक २ बीच में बड़ी शाला और दो २ पूर्व पश्चिम तथा एक २ उत्तर दक्षिण में शाला हों, ( या ) जो ऐसी शाला ( निमीयते )

बनाई जाती है वह उत्तम होती है, और इससे भी जो ( अष्टापत्ताम् ) चारों ओर दो २ शाला और उनके बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा ( दशपत्ताम् ) जिसके मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो २ शाला हों, उस ( मानस्य ) परिमाण के योग से बनाई हुई ( शालाम् ) शाला को जैसे ( पत्नीम् ) पत्नी को प्राप्त होके ( अग्निः ) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य ( गर्भ इव ) गर्भरूप होके ( आशये ) गर्भाशय में ठहरता है वैसे सब शालाओं के द्वार दो २ हाथ पर सूधे बराबर हों, और जिसकी चारों ओर को शालाओं का परिमाण तीन २ गज, और मध्य की शालाओं का छः २ गज से परिमाण न्यून न हो, और चार २ गज चारों दिशाओं की ओर, आठ २ गज मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश २ गज अर्थात् बीस २ हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये । यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल २ स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिये कि जिसके कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुंड भी होने चाहियें वैसे घरों में सब लोग रहें ॥ ६ ॥

**प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् । अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ ७ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २२ ॥**

अर्थः—जो ( शाले ) शालागृह ( प्रतीचीनः ) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह ( प्रतीचीम् ) पश्चिम द्वार युक्त ( अहिंसतीम् ) हिंसादि दोष रहित अर्थात् पश्चिम द्वार के सन्मुख पूर्व द्वार जिसमें ( हि ) निश्चय कर ( अन्तः ) बीच में ( अग्निः ) अग्नि का घर ( च ) और ( आपः ) जल का स्थान ( ऋतस्य ) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान ( प्रथमा ) प्रथम ( द्वाः ) द्वार हैं मैं ( त्वा ) उस शाला को ( प्रैमि ) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥ ७ ॥

**मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ३ । मं० २४ ॥**

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे ( नः ) हमारी ( शाले ) शाला अर्थात् गृह ( पाशम् ) बन्धन को ( मा, प्रतिमुचः ) कभी न छोड़ें जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार ( लघुर्भव ) छोटा होवे वैसी बनाओ ( त्वा ) उस शाला को ( यत्र, कामम् ) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग ( वधूमिव ) स्त्री के समान ( भरामसि ) स्वीकार करते हैं वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके तब प्रवेश करते समय क्या २ विधि करना सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो ॥

अथ विधिः—जब घर बन चुके तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में चार वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावें अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम होजावे । सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १४—१५ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को ले के शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे, जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे उसी शुभ दिन गृहप्रतिष्ठा करे । वहां ऋत्विज् , होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों, उनमें से होता का आसन पश्चिम और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का आसन उत्तर में उस पर वह दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख, इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे, ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे, पश्चात् निष्क्रम्यद्वार जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे अर्थात् जो मुख्य द्वार हो उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

**ओं अच्युताय भौमाय स्वाहा**

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिसमें ध्वजा लगाई हो खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता

गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे जिससे वह दृढ़ रहे। पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जल सेचन करे॥

ओं इमामुच्छ्र्यामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्र्यमाणा॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्र्यस्व महते सौभगाय। आ त्वा शिशुराक्रन्दन्त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥ २॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार॥

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासः रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्॥ ३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार॥

अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसानः॥ ४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे। तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदलीस्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति॥ ऐसा वाक्य बोले और ब्रह्मा:—

वरं भवान् प्रविशतु

ऐसा प्रत्युत्तर देवे और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओं ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये

इस वाक्य को बोल के भीतर प्रवेश करे। और जो घृत गरम कर, छान कर, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो उसको पात्र में ले के जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे उसी द्वार से प्रवेश करके पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन करके पृष्ठ २२—२३ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ ( चार ), और व्याहृति आहुति ४ ( चार ), नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से ले के स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके पश्चात् पूर्वदिशाद्वारस्थ कुण्ड में—

**ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥**

इन मन्त्रों से पूर्वद्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

**ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥**

इन दो मन्त्रों से दक्षिणद्वारस्थ वेदी में एक २ मन्त्र करके दो आज्याहुति और:—

**ओं प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥**

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिमदिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

**ओं उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥**

इनसे उत्तरदिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे, पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व २ दिशा में बैठ के—

**ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥**

इन से मध्य वेदी में दो आज्याहुति ॥

**ओं ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥**

इनसे भी दो आहुति मध्यवेदी में और—

**ओं दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा । ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥**

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्वदिशास्थ द्वारस्थवेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके, वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तर भाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बना के पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा स्वयं पूर्वाभिमुख बैठ के संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में ले के सबके सामने एक २ पात्र भर के रक्खे और चमसा में ले के:—

**ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥ १ ॥ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा ॥ २ ॥ वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५४ । मं० १–३ ॥**

**अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥ ४ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १ ॥**

इन चार मन्त्रों से ४ ( चार ) आज्याहुति देके जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने २ सामने रक्खे और पृथक् २ थोड़ा २ लेकरः—

**ओं अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये । सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ १ ॥ सर्पदेवजनान्त्सर्वान्हिमवन्तं सुदर्शनम् । वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ २ ॥ पूर्वाह्णमपराह्णं चौभौ माध्यन्दिना सह । प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं कर्त्तारश्च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन् । एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ४ ॥ धातारं च विधातारं निधीनां च पतिं सह । एतान् सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनथं शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती । सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥**

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर, कांस्यपात्र में उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाद्वल तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

**ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥**

इस मन्त्र से पूर्वद्वार ॥

**यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥**

इससे दक्षिण द्वार ॥

**अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥**

इससे पश्चिम द्वार ॥

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ॥

केता च मां सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥ १ ॥

इससे पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके, दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके, पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख हो के—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रह के—

अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूर्यामहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमतो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणाः सखायः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बान्धियों

को उत्तम भोजन कराके यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिताः सदा भूयासुः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद दे के अपने २ घर को जावें । इसी प्रकार आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें । इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिसका सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे । यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे ॥

इति शालादिसंस्कारविधिः

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो २ अपने २ वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं उन उन को यथावत् करें ॥

## अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥ मनु० ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—१ ( एक )–निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें । २ ( दो )–पूर्ण विद्या पढ़ें । ३ ( तीन )–अग्निहोत्रादि यज्ञ करें । ४ ( चौथा )–यज्ञ करावें । ५ ( पांच )–विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें । ६ ( छठा )–न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवे भी । इनमें से ३ ( तीन ) कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना* धर्म में । और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है । परन्तु—

* धर्म नाम न्यायाचरण । न्याय नाम पक्षपात छोड़ के वर्त्तना । पक्षपात छोड़ना

**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥**

जो दान लेना है वह नीच कर्म है । किन्तु पढ़ाके और यज्ञ करा के जीविका करनी उत्तम है ॥ १ ॥ ( शमः ) मन को अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे ( दमः ) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे ( तपः ) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना ( शौचम् ) राग. द्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि के शरीर को सदा पवित्र रखना ( क्षान्तिः ) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना ( आर्जवम् ) निरभिमान रहना दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना ( ज्ञानम् ) सब शास्त्रों को पढ़ के विचार कर उनके शब्दार्थसम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना ( विज्ञानम् ) पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना ( आस्तिक्यम् ) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना । ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना । सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना । ये गुण कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें । मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

## अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

**प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।**
**विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ मनु० ॥**

नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर, हिंसा द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना । सब मनुष्यों का यही एक धर्म है । किन्तु जो २ धर्म के लक्षण वर्ण–कर्मों में पृथक् २ आते हैं इसी से चार वर्ण पृथक् २ गिने जाते हैं ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गीता० ॥

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से ( अध्ययनम् ) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना ( इज्या ) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना ( दानम् ) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना ( प्रजानां, रक्षणम् ) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है ( विषयेष्वप्रसक्तिः ) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ( शौर्यम् ) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना ( तेजः ) प्रगल्भ उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना ( धृतिः ) चाहे कितनी आपत्, विपत्, क्लेश, दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना ( दाक्ष्यम् ) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना ( युद्धे, चाप्यपलायनम् ) युद्ध में सदा उद्यत रहना युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना ( दानम् ) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आगया ( ईश्वरभावः ) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके, पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर, धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुख दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त कर, गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, और सब प्रकार से अपने शरीर को रोग-रहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चला कर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे । इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना । और

जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों की न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ॥

## अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

**पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।**
**वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ १ ॥ मनु० ॥**

अर्थः-( अध्ययनम् ) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना ( इज्या ) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना ( दानम् ) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और ( पशूनां, रक्षणम् ) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना ( वणिक्पथम् ) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना ( कुसीदम् ) व्याज का लेना * ( कृषिमेव च ) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥ १ ॥

## अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

**एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।**
**एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥ मनु० ॥**

अर्थः—( प्रभुः ) परमेश्वर ने ( शूद्रस्य ) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आसके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये ( एतेषामेव वर्णानाम् ) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की ( अनसूयया )

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आजाय उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून व्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ॥

निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना ( एकमेव कर्म ) यही एक कर्म ( समादिशत् ) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिये। इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है॥ १॥

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने २ कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्त्तें॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १॥
नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ २॥ मनु०॥

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़ के नित्य किया करें उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए, मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं॥ १॥ गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्यसंचय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रख के दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तथापि अधर्म से द्रव्यसञ्चय कभी न करे॥ २॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत्॥ ३॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता॥ ४॥ मनु०॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फँसे, और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे॥ ३॥

जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सबको छोड़ देवे, जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥ ४ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ५ ॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ६ ॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७ ॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ८ ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ६ ॥ मनु० ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म, धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उनको और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥ ५ ॥ मनुष्य जैसे २ शास्त्र को विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है वैसे २ अधिक २ जानता जाता है और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ ६ ॥ सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७ ॥ गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी हो के पश्चात् दरिद्र हो जायं उससे अपने आत्मा का अपमान न करें कि हाय हम निर्धनी होगये इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ ८ ॥ मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें । काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें यह सनातन धर्म है ॥ ६ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ११ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १२ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १३ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान किया करें । जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मानपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे और हाथ जोड़ के आप समीप बैठे, पूछे (छु)वे उत्तर देवें और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे २ जाकर नमस्ते कर विदा किया करे और वृद्ध लोग हरवार निकम्मे जहां तहां न जाया करें ॥ १० ॥ गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् जो सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का आचरण है उसका सेवन सदा किया करें ॥ ११ ॥ धर्माचरण ही से दीर्घायु उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश करदेता है ॥ १२ ॥ और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा होजाता है ॥ १३ ॥ जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोष रहित होता है वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥ १४ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६ ॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७ ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य जो २ पराधीन कर्म हो उस २ को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो २ स्वाधीन कर्म हो उस २ का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५ ॥ क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥ जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से संचित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १७ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १८ ॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १९ ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २० ॥ मनु० ॥

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता किन्तु धीरे २ अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ १८ ॥ यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १९ ॥ इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर

की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी बाहू उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रख के शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ २० ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ २१ ॥
धर्मं शनैस्संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २२ ॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥ २३ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २४ ॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहे ॥ २१ ॥ जैसे दीमक धीरे २ बड़े भारी घर को बना लेती हैं वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे धीरे किया करे ॥ २२ ॥ जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे वह नीच नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २३ ॥ जिस वाणी में सब व्यवहार, निश्चित वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़ के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥ २४ ॥ मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन पाठन, गायत्री प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना ज्ञान विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन,

सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ( ब्राह्मी ) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करे ॥ २५ ॥

अथ सभा०— जो २ विशेष बड़े २ काम हों जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें ।

इसमें प्रमाण—तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ५ ॥ त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

अर्थः—( तम् ) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार संचित करे ॥ १ ॥ हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू ( मे ) मेरी ( सभाम् ) सभा की ( पाहि ) रक्षा और उन्नति किया कर ( ये, च ) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त ( सभासदः ) सभासद् विद्वान् लोग हैं वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥ २ ॥ जो ( राजाना ) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं वे ( विदथे ) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में ( त्रीणि ) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की ( सदांसि ) सभा नियत कर इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥ मनु० ॥

अर्थः-हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष

न कहे हों यदि उनमें शंका होवे तो तुम जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें उसी को शंकारहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥ शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु जिन्हों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ ४ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५ ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ६ ॥ मनु० ॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० ( दश ) पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है जो सभा से धर्म कर्म निश्चित हों उनका भी आचरण सब लोग करें ॥ ३ ॥ उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ ( तीन ) वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे ॥ ४ ॥ तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिये और जितने सभा में अधिक पुरुष हों उतनी ही उत्तमता है ॥ ५ ॥ द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म व्यवहार के करने का निश्चय करे वही परमधर्म समझना किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ों पुरुषों का कहा हुआ, धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु

धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है ॥ ६ ॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे वही उत्तम समझनी चाहिये ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ८ ॥ मनु० ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥ ७ ॥ धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं, ( अहिंसा ) किसी से वैरबुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना, ( धृतिः ) सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना, ( क्षमा ) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना, ( दमः ) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना. ( अस्तेयम् ) मन. कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना ( शौचम् ) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना. (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना. ( धीः ) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना ( विद्या ) जिससे भूमि से ले के परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त होना. ( सत्यम् ) सत्य मानना सत्य बोलना

सत्य करना, ( अक्रोधः ) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है इस का ग्रहण, और अन्याय पक्षपातसहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा वैरबुद्धि, अधैर्य असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि से बुद्धि को नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥
महाभारते० ॥ ९ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १० ॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ११ ॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १२ ॥ मनु० ॥

वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ॥ ९ ॥ मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है ॥ १० ॥ अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ॥ ११ ॥ जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ॥ १२ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत् ॥ १३ ॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १४ ॥ मनु० ॥

जो पुरुष धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म भी रक्षा करता है इसलिये मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिये ॥ १३ ॥ जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है उसका जो लोप करता है उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ॥ १४ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ १५ ॥
महाभारते ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १६ ॥ मनु० ॥
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १७ ॥ भर्तृहरिः ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्धि होने के कारण से, वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी, धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से, चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्त्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्त्ती राज्य को भी ग्रहण न करें । चाहे भोजन छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें । क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं,

तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥ १५ ॥ जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है उस सभा में सब सभासद मरे से ही हैं ॥ १६ ॥ सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिये कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट होजावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २ ॥**

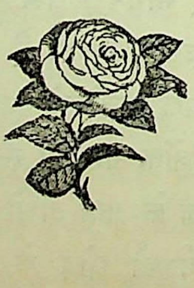
**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः ॥ २ ॥ यजु० अ० १९ । मं० ७७ ॥**

**सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ तैत्तिरीयार० अष्टमप्रपाठकः। प्रथमानुवाकः ॥**

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि ( यथा ) जैसे ( पूर्वे ) प्रथम अधीत विद्यायोगाभ्यासी ( संजानानाः ) सम्यक् जाननेवाले ( देवाः ) विद्वान् लोग मिलके ( भागम् ) सत्य असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की ( उपासते ) उपासना करते हैं वैसे ( सम्, जानताम् ) आत्मा से धर्माऽधर्म प्रियाऽप्रिय को सम्यक् जाननेहारे ( वः ) तुम्हारे ( मनांसि ) मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म्म में सम्मत होवें और तुम उसी धर्म को ( संगच्छध्वम् ) सम्यक् मिल के प्राप्त होओ जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़ के ( संवदध्वम् ) सम्यक् संवाद

प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥ १ ॥ ( प्रजापतिः ) सकल सृष्टि का उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा ( सत्यानृते ) सत्य और अनृत ( रूपे ) भिन्न २ स्वरूपवाले धर्म अधर्म को ( दृष्ट्वा ) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देख के ( व्याकरोत् ) भिन्न २ निश्चित करता है ( अनृते ) मिथ्याभाषणादि अधर्म में ( अश्रद्धाम् ) अप्रीति करो और ( प्रजापतिः ) वही परमात्मा ( सत्ये ) सत्यभाषणादि लक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी ( श्रद्धाम् ) प्रीति को ( अदधात् ) धारण कराता है वैसा ही तुम करो ॥ २ ॥ हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि ( सह ) मिलके ( नौ ) हम दोनों प्रीति से ( अवतु ) एक दूसरे की रक्षा किया करें और ( सह ) प्रीति से मिल के एक दूसरे के ( वीर्यम् ) पराक्रम की बढ़ती ( करवावहै ) सदा किया करें ( नौ ) हमारा ( अधीतम् ) पढ़ा पढ़ाया ( तेजस्वि ) अतिप्रकाशमान ( अस्तु ) होवे और हम एक दूसरे से (मा, विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें । किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त्त कर सब गृहस्थों के सद्-व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें । जिस परमात्मा का यह "ओम्" नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख जो कि अपने दूसरे से होता है नष्ट होजावे और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल हो के सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें ॥

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः



# अथ

# वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

वानप्रस्थसंस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान होजाय अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे ॥

**अत्र प्रमाणानि—ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ शतपथब्राह्मणे ॥**

**व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।**
**दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ २ ॥**

**यजु० अ० १९ । मं० ३० ॥**

अर्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥ १ ॥ जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है तब उस ( व्रतेन ) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप ( दीक्षाम् ) दीक्षा को ( आप्नोति ) प्राप्त होता है ( दीक्षया ) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से ( दक्षिणाम् ) सत्कारपूर्वक धनादि को ( आप्नोति ) प्राप्त होता है ( दक्षिणा ) उस सत्कार से ( श्रद्धाम् ) सत्य धारण में प्रीति को ( आप्नोति ) प्राप्त होता है और ( श्रद्धया ) सत्यधार्मिक जनों में प्रीति से ( सत्यम् ) सत्यविज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को ( आप्यते ) प्राप्त होता है इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

अभ्याद॑धामि स॒मिध॒मग्ने॑ व्रतपते त्वयि॑ । व्र॒तञ्च॑ श्र॒द्धां चोपै॑मी॒न्धे त्वा॑ दीक्षि॒तो अ॒हम् ॥ ३ ॥ यजु० अ० २० । मं० २४ ॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन् । ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒माक्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १ ॥

अर्थः—हे ( व्रतपतेऽग्ने ) नियमपालकेश्वर ! ( दीक्षितः ) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ ( अहम् ) मैं ( त्वयि ) तुझ में स्थिर होके ( व्रतम् ) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण ( च ) और उसकी सामग्री ( श्रद्धाम् ) सत्य की धारणा को ( च ) और उसके उपायों को ( उपैमि ) प्राप्त होता हूं इसीलिये अग्नि में जैसे ( समिधम् ) समिधा को ( अभ्यादधामि ) धारण करता हूं वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही ( त्वा ) तुझ को अपने आत्मा में धारण करता और सदा ( ईन्धे ) प्रकाशित करता हूं ॥ ३ ॥ हे गृहस्थ ! ( प्रजानन् ) प्रकर्षता से जानता हुआ तू ( एतम् ) इस वानप्रस्थाश्रम का ( आरभस्व ) आरम्भ कर ( आनय ) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला ( सुकृताम् ) पुण्यात्माओं के ( लोकमपि ) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी ( गच्छतु ) प्राप्त हो ( बहुधा ) बहुत प्रकार के ( महान्ति ) बड़े बड़े ( तमांसि ) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को ( तीर्त्वा ) तर के अर्थात् पृथक् होकर ( अजः ) अपने आत्मा को अजर अमर जान ( तृतीयम् ) तीसरे ( नाकम् ) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को ( आक्रमताम् ) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥ ४ ॥

भ॒द्रमि॒च्छन्त॒ ऋष॑यस्स्व॒र्विद॒स्तपो॑ दी॒क्षामु॑प॒निषे॑दु॒रग्रे॑ । ततो॑ रा॒ष्ट्रं बल॒मोज॑श्च जा॒तं तद॑स्मै दे॒वा उ॑प॒सन्न॑मन्तु ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

मा नो॑ मे॒धां मा नो॑ दी॒क्षां मा नो॑ हिंसिष्ट॒ यत्तपः॑ । शि॒वा नः॒ शं स॒न्त्वायु॑षे शि॒वा भ॑वन्तु मा॒तरः॑ ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे ( स्वर्विदः ) सुख को प्राप्त होनेवाले ( ऋषयः ) विद्वान् लोग ( अग्रे ) प्रथम ( दीक्षाम् ) ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके ( तपः ) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को ( उप, निषेदुः ) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं वैसे इस ( भद्रम् ) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की ( इच्छन्तः ) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्य्याश्रम को करके ( ततः ) तदनन्तर ( ओजः ) पराक्रम ( च ) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के ( जातम् ) प्रसिद्ध प्राप्त हुए ( राष्ट्रम् ) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और ( अस्मै ) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं ( तत् ) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को ( उप, सं, नमन्तु ) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥ ५ ॥ सम्बन्धी जन ( नः ) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की ( मेधाम् ) प्रज्ञा को ( मा, हिंसिष्ट ) नष्ट मत करें ( नः ) हमारी ( दीक्षाम् ) दीक्षा को ( मा ) मत और ( नः ) हमारा ( यत् ) जो ( तपः ) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी ( मा ) मत नाश करे ( नः ) हमारी दीक्षा और ( आयुषे ) जीवन के लिये सब प्रजा ( शिवा ) कल्याण करनेहारी ( सन्तु ) होवें जैसे हमारी ( मातरः ) माता पितामही प्रपितामही आदि ( शिवाः ) कल्याण करनेहारी होती हैं वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ॥६॥

**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या * विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥ मुण्डकोपनि॰ मुं॰ १ । खं॰ २ । मं॰ ११ ॥**

अर्थः—हे मनुष्यो ! ( ये ) जो ( विद्वांसः ) विद्वान् लोग ( अरण्ये ) जंगल में ( शान्त्या ) शान्ति के साथ ( तपःश्रद्धे ) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके ( उपवसन्ति ) वनवासियों के समीप वसते हैं और ( भैक्ष्यचर्याम् ) भिक्षाचरण को ( चरन्तः ) करते हुए जंगल में निवास करते हैं

* "शान्ता" इति मुण्डके पाठः ( आनन्दाश्रमग्रन्थावलिः ) ।

( ते ) वे ( हि ) ही ( विरजाः ) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके ( सूर्यद्वारेण ) प्राण के द्वारा ( यत्र ) जहां ( सः ) सो ( अमृतः ) मरण जन्म से पृथक् ( अव्ययात्मा ) नाशरहित ( पुरुषः ) पूर्ण परमात्मा विराजमान है ( हि ) वहीं ( प्रयान्ति ) जाते हैं इसलिये वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ॥ ७ ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ मनु० ॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम कर के वन में वसे ॥ १ ॥ गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र होजाय तब वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥ जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़ के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ मनु० ॥

अर्थः—जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री सहित ले के ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ५ ॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ६ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ७ ॥ मनु० अ० ६ ॥

अर्थः—वहां जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणिमात्र पर अनुकम्पा—कृपा रखनेहारा होवे ॥ ५ ॥ जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ॥ ६ ॥ और इस प्रकार वन में बसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे, और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे, इसी प्रकार जबतक संन्यास करने की इच्छा न हो तबतक वानप्रस्थ ही रहे ॥ ७ ॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र होजावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तय्यारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ लेजावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना। तत्पश्चात् पृष्ठ १३—१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे। पृष्ठ १४—१५ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़ के पृ २०—२१ में लिखे प्रमाणे ( ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ० ) इस मन्त्र से अग्न्याधान और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके पृ० २२ में लिखे प्रमाणेः—

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, आघारावाज्यभागाहुति ४ और व्याहृति आज्याहुति ४ ( चार ) करके, पृष्ठ ८—१२ में

लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर, उस पर घृत सेचन कर, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे ॥

ओं काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा । कतमस्मै स्वाहा । आधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा । चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहा । अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा । सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा । सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा । पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा । पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा । त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा । त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा * । भुवनस्य पतये स्वाहा । अधिपतये स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा † । ओं आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । अपानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । उदानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । समानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । वाग्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । मनो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा । यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ‡ । एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा । एकशताय स्वाहा । व्युष्टचै स्वाहा । स्वर्गाय स्वाहा § ॥

इन मन्त्रों से एक २ करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २३ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ (चार) देकर, पृ० २६ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर, एकान्त में निवास कर, योगाभ्यास शास्त्रों का विचार महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः

* यजुः अ० २२ । मं० २० ॥ † यजुः अ० २२ । मं० ३२ ॥

‡ यजु० अ० २२ । मं० ३३ ॥ § यजु० अ० २२ । मं० ३४ ॥

# अथ

# संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

संन्याससंस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात्ः—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन, वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी ॥

कालः—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता २ वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को क्रमसंन्यास कहते हैं ॥

## द्वितीय प्रकार

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ॥

यह ब्राह्मणग्रन्थ का वाक्य है—

अर्थः—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है ॥

## तृतीय प्रकार

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय होजावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ॥

## अत्र वेदप्रमाणानि

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १ ॥ आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः। ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥ ऋ० मं० ९। सू० ११३। मं० १, २ ॥

अर्थः—मैं ईश्वर, संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे ( वृत्रहा ) मेघ का नाश करने हारा ( इन्द्रः ) सूर्य्य ( शर्य्यणावति ) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित ( सोमम् ) रस को पीता है वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को ( पिबतु ) पीवे और ( आत्मनि ) अपने आत्मा में ( महत् ) बड़े ( वीर्यम् ) सामर्थ्य को ( करिष्यन् ) करूंगा ऐसी इच्छा करता हुआ ( बलं, दधानः ) दिव्य बल को धारण करता हुआ ( इन्द्राय ) परमैश्वर्य के लिये हे ( इन्दो ) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वन् ! तू संन्यास लेके सब पर ( परि, स्रव ) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥ १ ॥ हे ( सोम ) सोम्यगुणसम्पन्न ( मीढ्वः ) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे ( दिशांपते ) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान दे के पालन करनेहारे ( इन्दो ) शमादि गुणयुक्त संन्यासिन् ! तू ( ऋतवाकेन ) यथार्थ बोलने ( सत्येन ) सत्य भाषण करने से ( श्रद्धया ) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और ( तपसा ) प्राणायाम योगाभ्यास से ( आर्जीकात् ) सरलता से ( सुतः ) निष्पन्न होता हुआ तू अपने शरीर,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि को ( आ, पवस्व ) पवित्र कर ( इन्द्राय ) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये ( परि, स्रव ) सब ओर से गमन कर ॥ २ ॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्। श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ४ ॥

अर्थः-हे ( ऋतुद्युम्न ) सत्य धन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! ( ऋतं, वदन् ) पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ हे ( सत्यकर्मन् ) सत्य वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! ( सत्यं, वदन् ) सत्य बोलता हुआ ( श्रद्धाम् ) सत्य-धारण में प्रीति करने को ( वदन् ) उपदेश करता हुआ ( सोम ) सोम्यगुण-संपन्न ( राजन् ) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मा वाले ( सोम ) योगैश्वर्ययुक्त ( इन्दो ) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू ( धात्रा ) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके ( परिष्कृत ) शुद्ध होता हुआ ( इन्द्राय ) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये ( परि, स्रव ) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥ ऋग्वेद मं० ९ । सू० ११३ । मं० ६ ॥

अर्थः—हे ( छन्दस्याम् ) स्वतन्त्रतायुक्त ( वाचम् ) वाणी को ( वदन् ) कहते हुए ( सोमेन ) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से ( आनन्दम् ) सब के लिये आनन्द को ( जनयन् ) प्रकट करते हुए ( इन्दो ) आनन्दप्रद ( पवमान ) पवित्रात्मन् पवित्र करनेहारे संन्यासिन् ! ( यत्र ) जिस ( सोमे ) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में ( ब्रह्मा ) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् ( महीयते ) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है जैसे ( ग्राव्णा ) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है वैसे तू सब को ( इन्द्राय ) परमैश्वर्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को ( परि, स्रव ) सब प्रकार से प्राप्त करा ॥ ४ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ७ ॥

अर्थः-हे ( पवमान ) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे पवित्रस्वरूप ( इन्दो ) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! ( यत्र ) जिस तेरे स्वरूप में ( अजस्रम् ) निरन्तर व्यापक तेरा ( ज्योतिः ) तेज है ( यस्मिन् ) जिस ( लोके ) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में ( स्वः ) नित्य सुख ( हितम् ) स्थित है ( तस्मिन् ) उस ( अमृते ) जन्म मरण और ( अक्षिते ) नाश से रहित ( लोके ) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप ( मा ) मुझ को ( इन्द्राय ) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये ( धेहि ) कृपा से धारण कीजिये और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से ( परि, स्रव ) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ६ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ८ ॥

अर्थः—हे ( इन्दो ) आनन्दप्रद परमात्मन् ! ( यत्र ) जिस मुझ में ( वैवस्वतः ) सूर्य का प्रकाश ( राजा ) प्रकाशमान हो रहा है ( यत्र ) जिस आप में ( दिवः ) बिजुली अथवा बुरी कामना की ( अवरोधनम् ) रुकावट है (यत्र) जिस आप में ( अमूः ) वे कारणरूप ( यह्वतीः ) बड़े व्यापक आकाशस्थ ( आपः ) प्राणप्रद वायु हैं ( तत्र ) उस अपने स्वरूप में ( माम् ) मुझ को ( अमृतम् ) मोक्षप्राप्त ( कृधि ) कीजिये ( इन्द्राय ) परमैश्वर्य के लिये, (परि, स्रव ) आर्द्रभाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ॥ ६ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥ ऋ० मं० ६ । सू० ११३ । मं० ६ ॥

अर्थः—हे ( इन्दो ) परमात्मन् ! ( यत्र ) जिस आप में ( अनुकामम् ) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र ( चरणम् ) विचरना है ( यत्र ) जिस ( त्रिनाके )

त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रिदिवे) तीन सूर्य विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामनावाले (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परि, स्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ७ ॥

**यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० १० ॥**

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझ पर (परि, स्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥ ८ ॥

**यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं० ११ ॥**

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब

कामना ( आप्ताः ) प्राप्त होती हैं ( तत्र ) उसी अपने स्वरूप में ( इन्द्राय ) परमैश्वर्य के लिये ( माम् ) मुझ को ( अमृतम् ) जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तयुक्त कि जिसके मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता उस मुक्ति की प्राप्ति वाला ( कृधि ) कीजिये और इसी प्रकार सब जीवों को ( परि, स्रव ) सब ओर से प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत । अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्त्तन ॥ १० ॥ ऋ० मं० १० । सू० ७२ । मं० ७ ॥

अर्थः—हे ( देवाः ) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे ( अत्र ) इस ( समुद्रे ) आकाश में ( गूढम् ) गुप्त ( आसूर्यम् ) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है उसको ( आ, अजभर्त्तन ) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ वैसे ( यत् ) जो ( भुवनानि ) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं उनको सदा ( आपिन्वत ) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो यही तुम्हारा परमधर्म है ॥ १० ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सन्नमन्तु ॥ ११ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

अर्थः—हे विद्वानो ! जो ( ऋषयः ) वेदार्थविद्या को और ( स्वर्विदः ) सुख को प्राप्त ( अग्रे ) प्रथम ( तपः ) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके ( भद्रम् ) कल्याण की ( इच्छन्तः ) इच्छा करते हुए ( दीक्षाम् ) संन्यास की दीक्षा को ( उपनिषेदुः ) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें उनका ( देवाः ) विद्वान् लोग ( उप, सन्नमन्तु ) यथावत् सत्कार किया करें ( ततः ) तदनन्तर ( राष्ट्रम् ) राज्य ( बलम् ) बल ( च ) और ( ओजः ) पराक्रम ( जातम् ) उत्पन्न होवे ( तत् ) उससे ( अस्मै ) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥ ११ ॥

## अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ १ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत् ॥ २ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३ ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ५ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ६ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ७ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १० ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ११ ॥

दूषितोपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ १२ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ १३ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १४ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ १५ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १६ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ २१ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्य*मिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ २२ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २३ ॥

मनु० । अ० ६ ॥

* स्वर्गमिति मनौ पाठः ॥ अ० ६ । श्लो० ८४ ॥

अर्थः—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ ( पच्चीस ) वर्ष अथवा न्यून से न्यून १२ ( बारह ) वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० ( सत्तर ) वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी होजावे ॥ १ ॥ विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़ गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥ २ ॥ प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि ( कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है ) कर आहवनीय गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥ ३ ॥ जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोकलोकान्तर तेजोमय ( ज्ञान से प्रकाशमय ) हो जाते हैं ॥ ४ ॥ जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे तभी गृहाश्रम से निकल कर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ५ ॥ वह संन्यासी ( अनग्निः* ) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥ ६ ॥ न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ७ ॥ चलते समय आगे २ देख के पग धरे, सदा वस्त्र से छान कर जल पीवे, सब से सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते । यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ॥

॥ ८ ॥ इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥ ९ ॥ सब शिर के बाल डाढ़ी मूंछ और नखों को समय २ छेदन कराता रहे, पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए * वस्त्रों का धारण किया करे, सब भूत प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥ १० ॥ जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे, ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है, सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम की विधि है, किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥ १२ ॥ यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है तथापि उसके नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले पीस जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है, वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने २ आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है अन्यथा नहीं ॥ १३ ॥ इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिये संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगा के जैसा कि पृष्ठ १८० में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥ १४ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥ इसलिये संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को, धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से संग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर सब दोषों को भस्म कर देवें ॥ १६ ॥ बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में

* अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने ॥

जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे ।। १७ ।। जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, संत्सग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञान-हीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यासपदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरण रूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है ।। १८ ।। और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं वे इसी जन्म इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ।। १९ ।। जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है तभी इस लोक इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर * सुख को प्राप्त होता है ।। २० ।। इस विधि से धीरे २ सब संग से हुये दोषों को छोड़ के सब हर्षशोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त हो के विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ।। २१ ।। और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उस के अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे । यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौणसंन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख का खोज करनेहारे और यही अनन्त † सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ।। २२ ।। इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है वह इस संसार और शरीर से सब पापों को छोड़ छुड़ा के परब्रह्म को प्राप्त होता है ।। २३ ।।

---

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में, दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता ।।

† अनन्त इतना ही है कि मुक्तिसुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे ।।

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप किया करे, और पृष्ठ० १३–१६ में लि० सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि साकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठकर, शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ १९ में लि० वरण कर, पृष्ठ २०–२१ में लि० अग्न्याधान समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके, पृष्ठ ८–१२ लि० स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ कर, पृष्ठ २२ में लि० वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ (चार), और व्याहृति आहुति ४ (चार), तथाः—

**ओं भुवनपतये स्वाहा। ओं भूतानां पतये स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥**

इनमें से एक २ मन्त्र से एक २ करके ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ २ घृताहुति करते जावें॥

**ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः। अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः, स्वाहा॥ १॥ ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥ अंहोमुचे प्रभरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः। इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्यास्सन्तु यजमानस्य कामाः, स्वाहा॥ ३॥ अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपांनपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः, स्वाहा॥ ४॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे, अग्नये स्वाहा॥**

इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ५ ॥ यत्र० । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ ६ ॥ यत्र० । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुस्सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ ७ ॥ यत्र० । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ८ ॥ यत्र० । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदन्न मम ॥ ९ ॥ यत्र० । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥ १० ॥ यत्र० । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः—इदन्न मम ॥ ११ ॥ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे—इदन्न मम ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १९ ॥ सू० ४२ । ४३ ॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ १ ॥ वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिः*संकल्पा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ २ ॥ शिरः पाणिपाद†पृष्ठोरूदरजङ्घाशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ३ ॥ त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ४ ॥ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ५ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशा मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ६ ॥ अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ७ ॥ विविट्यै स्वाहा ॥ ८ ॥ कषोत्काय स्वाहा ॥ ९ ॥ उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यताम्‡ । ज्योति० ॥ १० ॥ ओं मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम् । ज्योति० ॥ ११ ॥ अव्यक्तभावै-

* आकूतिरिति विसर्गान्तः पाठः तैत्तिरीयारण्यके ।

† पादपृष्ठोभयमध्ये पार्श्वपदमधिकं तैत्तिरीयारण्यके ।

‡ तैत्तिरीयार० प्र० १० । अनु० ५१-६० ॥

रहङ्कारैर्ज्योति० ॥ १२ ॥ आत्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १३ ॥ अन्तरात्मा मे शुध्यताम् । ज्योति० ॥ १४ ॥ परमात्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा * ॥ १५ ॥

इन १५ मन्त्रों में से एक २ करके भात की आहुति देनी। पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥ १९ ॥ ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ २१ ॥ ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥ ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥ ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥ ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ ओं कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥ ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥ ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥ ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥ ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥

---

१ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६६, एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में मुद्रित।

* ( प्राणापान ) इत्यादि से ले के ( परमात्मा मे शुध्यताम् ) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है। अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चला के, पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष, पढ़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे।

ओं परमेष्ठिने स्वाहा[1] ॥ ४३ ॥ ओं तद्ब्रह्म ॥ ४४ ॥ ओं तद्वायुः ॥ ४५ ॥ ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥ ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥ अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा[2] * ॥ ५० ॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति दे के, तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है वह पांच वा छः केशों को छोड़कर, पृष्ठ ६७—६९ में लिखे डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर करा के, यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त के मन्त्रों से १०८ ( एकसौ आठ ) वार अभिषेक करे। पुनः पृष्ठ १९ में लि० आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर, मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः। ओमिन्द्राय नमः। ओं सूर्याय नमः। ओं सोमाय नमः। ओमात्मने नमः। ओमन्तरात्मने नमः॥

इन छः मन्त्रों को जप के:—

ओमात्मने स्वाहा। ओमन्तरात्मने स्वाहा। ओं परमात्मने स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इन ४ ( चार ) मन्त्रों से ४ ( चार ) आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृ० १२३ में लि० मधुपर्क की क्रिया करे, तदनन्तर प्राणायाम करके:—

---

१ तैत्तिरीयारण्यक प्र० १०। अनु० ६७॥

२ तैत्तिरीयार० प्र० १०। अनु० ६८॥

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६६। ६७। ६८ के हैं।

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥ ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इन मन्त्रों को मन से जपे ॥

ओमग्नये स्वाहा । ओं भूः प्रजापतये स्वाहा । ओमिन्द्राय स्वाहा । ओं प्रजापतये स्वाहा । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा । ओं प्राणाय स्वाहा । ओमपानाय स्वाहा । ओं व्यानाय स्वाहा । ओं उदानाय स्वाहा । ओं समानाय स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके:—

ओं भूः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति* ॥ श० कां० १४ ॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा * ॥

इस वाक्य को बोल के सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे । पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं अर्थात् दहिने हाथ में जल ले के मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे यह मेरी सत्य वाणी है ॥

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् । ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि । ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् । ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसे सावदोम् ॥

इसका मन से जप करके, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके, पूर्वोक्त ( पुत्रैषणायाश्च० ) इस समग्र कण्डिका को बोल के, प्रैष्य मन्त्रोच्चारण कर—

ओं भूः संन्यस्तं मया । ओं भुवः संन्यस्तं मया । ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे । तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर, पूर्वाभिमुख होकर, संन्यास लेनेवाला:—

ओं अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्वदिशा में छोड़ देवे ।

येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे * ॥ १ ॥ अथर्व० कां० ६ । सू० ५ । मं० १७ ॥

और इसी पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ १ ॥ मनु० ॥

इस श्लोक का अर्थ पहिले लिख दिया है ॥

---

* हे ( अग्ने ) विद्वन् ! ( येन ) जिससे ( सहस्रम् ) सब संसार को अग्नि धारण करता है और ( येन ) जिससे तू ( सर्ववेदसम् ) गृहाश्रमस्थपदार्थमोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदि को ( वहसि ) धारण करता है उनको छोड़ ( तेन ) उस त्याग से ( नः ) हमको ( इमम् ) यह संन्यासरूप ( स्वाहा ) सुख देने हारे ( यज्ञम् ) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को ( देवेषु ) विद्वानों में ( गन्तवे ) जाने को ( वह ) प्राप्त हो ॥

इसके पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे उनको एक एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले जल की अञ्जलि भरः—

**ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥ ओं भूः स्वाहा ॥**

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देवे। उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकाल के काषाय वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे। और पृ० ८४ में लि० ( यो मे दण्डः० ) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

**यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ( १ ) ॥ १ ॥ सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ( २ ) ॥ २ ॥ यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते ( ३ ) ॥ ३ ॥ यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति**

( १ )-( यः ) जो पुरुष ( प्रत्यक्षम् ) साक्षात्कारता से ( ब्रह्म ) परमात्मा को ( विद्यात् ) जाने ( यस्य ) जिसके ( परूंषि ) कठोर स्वभाव आदि ( संभारा ) होम करने के साकल्य और ( यस्य ) जिसके ( ऋचः ) यथार्थ सत्यभाषण सत्योपदेश और ऋग्वेद ही ( अनूक्यम् ) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन है वही संन्यास ग्रहण करे ॥ १ ॥

( २ )-( यस्य ) जिसके ( सामानि ) सामवेद ( लोमानि ) लोम के समान ( यजुः ) यजुर्वेद जिसके ( हृदयम् ) हृदय के समान ( उच्यते ) कहा जाता है ( परिस्तरणम् ) जो सब ओर से शास्त्र आसन आदि सामग्री ( हविरित् ) होम करने योग्य के समान है वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥ २ ॥

( ३ )—( वा ) वा ( यत् ) जो ( अतिथिपतिः ) अतिथियों का पालन करनेहारा ( अतिथीन् ) अतिथियों के प्रति ( प्रतिपश्यति ) देखता है वही विद्वान् संन्यासियों में ( देवयजनम् ) विद्वानों के यजन करने के समान ( प्रेक्षते ) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

( १ ) और ( २ ) मन्त्रों के हिन्दी अर्थ संवत् १९४१ की छपी संस्कारविधि में नहीं हैं।

( ४ ) ॥ ४ ॥ या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ( ५ ) ॥ ५ ॥ यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति ( ६ ) ॥ ६ ॥ यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ( ७ ) ॥ ७ ॥ तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ( ८ ) ॥ ८ ॥ स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ( ९ ) ॥९॥ एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः (१०)

(४)—और ( यत् ) जो संन्यासी ( अभिवदति ) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है वह जानो ( दीक्षाम् दीक्षा को ( उपैति ) प्राप्त होता है ( यत् ) जो (उदकम् ) जल की ( याचति ) याचना करता है वह जानो ( अपः ) प्रणीता आदि में जल को ( प्रणयति ) डालता है ॥ ४ ॥

(५)—( यज्ञे ) यज्ञ में ( याः, एव ) जिन्हीं ( आपः ) जलों का ( प्रणीयन्ते ) प्रयोग किया जाता है ( ताः, एव ) वे ही (ताः ) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है ॥ ५ ॥

(६)—संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान ( कल्पयति ) कल्पना करते हैं वे ( सदः ) यज्ञशाला ( हविर्धानान्येव ) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र ( तत् ) वे ( कल्पयन्ति ) समर्थित करते हैं ॥ ६ ॥

(७)—और ( यत् ) जो संन्यासी लोग ( उपस्तृणन्ति ) बिछौने आदि करते हैं ( बर्हिरेव, तत् ) वह कुशपिंजूली के समान है ॥ ७ ॥

(८)—और जो ( तेषाम् ) उन ( आसन्नानाम् ) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ ( अतिथिः ) जिसकी कोई नियत तिथि न हो वह भोजनादि करता है वह ( आत्मने ) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में ( जुहोति ) आहुतियां देता है ॥ ८ ॥

(९)—और जो संन्यासी ( हस्तेन ) हाथ से खाता है वह जानो ( स्रुचा ) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है जैसे ( यूपे ) स्तम्भ में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं वैसे वह संन्यासी ( स्रुक्कारेण ) स्रुचा के समान ( वषट्कारेण ) होमक्रिया के तुल्य ( प्राणे ) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥ ९ ॥

(१०)—( एते, वै ) ये ही ( ऋत्विजः ) समय २ में प्राप्त होनेवाले ( प्रियाः च, अप्रियाः च ) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन ( यत् ) जिस कारण

॥ १० ॥ प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति (११) ॥ ११ ॥ प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति (१२) ॥ १२ ॥ योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः (१३) ॥ १३ ॥ इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (१४) ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ९ ॥ अनु० ३ । सू० १, २, ३ ॥

( अतिथयः ) अतिथिरूप हैं इससे गृहस्थ को ( स्वर्गं, लोकम् ) दर्शनीय अत्यन्त सुख को ( गमयन्ति ) प्राप्त कराते हैं ॥ १० ॥

( ११ )—( एतस्य ) इस संन्यासी का ( प्राजापत्यः ) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रम धर्मानुष्ठानरूप ( यज्ञः ) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म ( विततः ) व्यापक है अर्थात् ( यः ) जो इसको सर्वोपरि ( उपहरति ) स्वीकार करता है ( वै ) वही संन्यासी होता है ॥ ११ ॥

( १२ )—( यः ) जो ( एषः ) यह संन्यासी ( प्रजापतेः ) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के ( विक्रमान् ) सत्याचारों की ( अनुविक्रमते ) अनुकूलता से क्रिया करता है ( वै ) वही सब शुभगुणों का ( उपहरति ) स्वीकार करता है ॥ १२ ॥

( १३ )—( यः ) जो ( अतिथीनाम् ) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है ( सः ) वह संन्यासी के लिये ( आहवनीयः ) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है और ( यः ) जो संन्यासी का ( वेश्मनि ) घर में अर्थात् स्थान में निवास है ( सः ) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है और संन्यासी ( यस्मिन् ) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को ( पचन्ति ) पकाते हैं ( सः ) वह ( दक्षिणाग्निः ) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥ १३ ॥

(१४)—( यः ) जो गृहस्थ ( अतिथेः ) संन्यासी से ( पूर्वः ) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है ( एषः ) यह जानो ( गृहाणाम् ) गृहस्थों के ( इष्टम् ) इष्ट सुख ( च ) और उसकी सामग्री ( पूर्त्तम् ) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता ( च ) और उसके साधनों का ( वै ) निश्चय करके ( अश्नाति ) भक्षण अर्थात् नाश करता है । इसलिये जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उसको पूर्व जिमा कर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥ १४ ॥

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्ममुरो वेदि,-लोमानि बर्हि,र्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुस्तपोऽग्नि-र्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग,घोता * प्राण, उद्‌गाता चक्षु,रध्वर्युर्मनो, ब्रह्मा

* इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं–( एवम् ) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए ( तस्य ) उस ( विदुषः ) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप ( यज्ञस्य ) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का ( यजमानः ) पति ( आत्मा ) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार में ( श्रद्धा ) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है वह उसकी ( पत्नी ) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है वह ( इध्मम् ) यज्ञ के लिये इन्धन है, और जो उसका ( उरः ) वक्षःस्थल है वह ( वेदिः ) कुण्ड, और जो उसके शरीर पर ( लोमानि ) रोम हैं वे ( बर्हिः ) कुशा हैं, और जो ( वेदः ) वेद और उनका शब्दार्थसम्बन्ध जानकर आचरण करना है वह संन्यासी की ( शिखा ) चोटी है, और जो संन्यासी का ( हृदयम् ) हृदय है वह ( यूपः ) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इसके शरीर में ( कामः ) काम है वह ( आज्यम् ) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो ( मन्युः ) संन्यासी में क्रोध है वह ( पशुः ) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी ( तपः ) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है वह ( अग्निः ) जानो वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी ( दमः ) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोक के धर्माचरण में स्थिर रख के चलाता है वह ( शमयिता ) जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है और जो संन्यासी की ( वाक् ) सत्योपदेश करने के लिये वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को ( दक्षिणा ) अभयदान देना है, जो संन्यासी के शरीर में ( प्राणः ) प्राण है वह ( होता ) होता के समान, जो ( चक्षुः ) चक्षु है वह ( उद्‌गाता ) उद्गाता के तुल्य, जो ( मनः ) मन है वह ( अध्वर्युः ) अध्वर्यु के समान, जो ( श्रोत्रम् ) श्रोत्र है वह ( ब्रह्मा ) ब्रह्मा और ( अग्नीत् ) अग्नि लानेवाले के तुल्य। ( यावत्ध्रियते ) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है ( सा ) वह ( दीक्षा ) दीक्षाग्रहण, और ( यत् ) जो संन्यासी ( अश्नाति ) खाता है ( तद्धविः ) वह घृतादि साकल्य के समान, ( यत्, पिबति ) और जो वह जल दुग्धादि पीता है ( तदस्य, सोमपानम् ) वह इसका सोमपान है, और ( यद्रमते ) वह जो इधर उधर भ्रमण करता है ( तदुपसदः ) वह उपसद उपसामग्री, ( यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते ) जो वह गमन करता बैठता और उठता है (स, प्रवर्ग्यः) वह इसका प्रवर्ग्य है, ( यन्मुखम् ) जो इसका मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी को आहवनीय अग्नि के समान, ( या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम् )

श्रोत्रमग्नीत् । यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धवि,र्यत्पिबति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदो, यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति, यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं, यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ, येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा, ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः,

---

जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुतिरूप है ( तज्जुहोति ) वह जानो होम कर रहा है, ( यत्सायं प्रातरत्ति ) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है ( तत्समिधम् ) वे समिधा हैं, ( यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च ) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है ( तानि सवनानि ) वे तीन सवन ( ये, अहोरात्रे ) जो दिन और रात्रि हैं ( ते दर्शपौर्णमासौ ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं, ( येऽर्धमासाश्च, मासाश्च ) जो कृष्ण शुक्लपक्ष और महीने हैं ( ते चातुर्मास्यानि ) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, ( य ऋतवः ) जो वसन्तादि ऋतु हैं ( ते पशुबन्धाः ) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् ६ पशुओं का बांधना रखना है, ( ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च ) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं ( तेऽहर्गणाः ) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो ( सर्ववेदसं, वै ) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रमचिह्नों का त्याग करना है ( एतत्सत्रम् ) यह सब से बड़ा यज्ञ है, ( यन्मरणम् ) जो संन्यासी का मृत्यु है ( तदवभृथः ) वह यज्ञान्तस्नान है, ( एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम् ) यही जरावस्था और मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावत् ज़ीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है, ( य एवं विद्वानुदगयने० ) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के संग को प्राप्त होता है । और जो योग विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है । वह पुनः २ माता पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है । और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उससे परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय पर्य्यन्त मोक्ष सुख को भोगता है ।

सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं, यन्मरणं तदवभृथः, एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रं, य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद् ब्राह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् । तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६४ ॥

## अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि

न्यास * इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः

* ( न्यास इत्याहुर्मनीषिणः ) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इसलिये भावार्थ कहते हैं । न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है, कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उनसे अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उससे श्रद्धा सत्यधारण में प्रीति, उससे बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उससे ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उससे विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है । इसलिये अन्नदान श्रेष्ठ जिससे प्राण बल विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सब जगत् ओत प्रोत व्याप्त हो रहा है वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उसके जानने की इच्छा से उसको जान कर हे संन्यासिन् ! तू पुनः २ मृत्यु को प्राप्त मत हो । किन्तु मुक्ति से पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिये सब तपों का तप, सब से पृथक्, उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सबका सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा धर्त्ता, सूर्य्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । ( ओम् ) इस मन्त्र का मन से उच्चारण कर के परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों की ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है ।

प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशाश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठाव् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मंत्वमसि विश्वसृत्तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ६३ ॥

## संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १८ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ २ ॥ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ३ ॥ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ४ ॥ यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ १७॥ श्वेताश्वतर ॥

अर्थः—हे ( दृते ) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू ( मा ) मुझको संन्यासमार्ग में ( दृंह ) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू ( मित्रस्य ) सर्व सुहृद् आप्त पुरुष की ( चक्षुषा ) दृष्टि से ( मा ) मुझ को सब का मित्र बना । जिससे ( सर्वाणि ) सब ( भूतानि ) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से ( समीक्षन्ताम् ) देखें और ( अहम् ) मैं ( मित्रस्य ) मित्र की ( चक्षुषा ) दृष्टि से ( सर्वाणि, भूतानि ) सब जीवों को ( समीक्षे ) देखूं इस प्रकार आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को ( मित्रस्य, चक्षुषा ) सुहृद्भाव की दृष्टि से ( समीक्षामहे ) देखते रहें ॥ १ ॥ हे ( अग्ने ) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक ( देव ) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! ( विद्वान् ) आप ( राये ) योग विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये ( सुपथा ) वेदोक्त धर्ममार्ग से ( अस्मान् ) हम को ( विश्वानि ) सम्पूर्ण ( वयुनानि ) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को ( नय ) कृपा से प्राप्त कीजिये और ( अस्मत् ) हम से ( जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित ( एनः ) अपराध पाप कर्म को ( युयोधि ) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये इसीलिये ( ते ) आप ही की ( भूयिष्ठाम् ) बहुत प्रकार ( नम उक्तिम् ) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य ( विधेम ) किया करें ॥ २ ॥ ( यः ) जो संन्यासी ( तु ) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य ( सर्वाणि, भूतानि ) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को ( अनुपश्यति ) अनुकूलता से देखता

है ( च ) और ( सर्वभूतेषु ) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में ( आत्मानम् ) परमात्मा को देखता है ( ततः ) इस कारण वह किसी व्यवहार में ( न, विचिकित्सति ) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि लाभ सुख दुःखादि व्यवस्था में देखे वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ ( विजानतः ) विज्ञानयुक्त संन्यासी का ( यस्मिन् ) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में ( सर्वाणि, भूतानि ) सब प्राणिमात्र ( आत्मैव ) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है उसी प्रकार का निश्चय ( अभूत् ) होता है ( तत्र ) उस संन्यासाश्रम में ( एकत्वमनुपश्यतः ) आत्मा के एक भाव को देखनेवाले संन्यासी को ( को, मोहः ) कौनसा मोह और ( कः, शोकः ) कौनसा शोक होता है अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है इसलिये संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब से उपकार करता रहे ॥ ४ ॥ इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो ( भूतानि ) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में ( परीत्य ) व्याप्त ( लोकान् ) सम्पूर्ण लोकों में ( परीत्य ) पूर्ण हो और ( सर्वाः ) सब ( प्रदिशो, दिशश्च ) दिशा और उपदिशाओं में ( परीत्य ) व्यापक होके स्थित है (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से ( प्रथमजाम् ) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है उस ( आत्मानम् ) परमात्मा को संन्यासी ( आत्मना ) स्वात्मा से ( उपस्थाय ) समीप स्थिर होकर उसमें ( अभिसंविवेश ) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥ ५ ॥ हे संन्यासी लोगो ! ( यस्मिन् ) जिस ( परमे ) सर्वोत्तम ( व्योमन् ) आकाशवत् व्यापक ( अक्षरे ) नाशरहित परमात्मा में ( ऋचः ) ऋग्वेदादि वेद और ( विश्वे ) सब ( देवाः ) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् ( अधिनिषेदुः ) स्थित हुए और होते हैं ( यः ) जो जन ( तत् ) उस व्यापक परमात्मा को ( न, वेद ) नहीं जानता वह ( ऋचा ) वेदादि शास्त्र पढ़ने से ( किं, करिष्यति ) क्या सुख वा लाभ कर लेगा अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ़ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर

धारण करके निष्फल चला जाता है और ( ये ) जो विद्वान् लोग ( तत् ) उस ब्रह्म को ( विदुः ) जानते हैं ( ते, इमे, इत् ) वे ये ही उस परमात्मा में ( समासते ) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥ ६ ॥ ( समाधिनिर्धूतमलस्य ) समाधियोग से निर्मल ( चेतसः ) चित्त के सम्बन्ध से ( आत्मनि ) परमात्मा में ( निवेशितस्य ) निश्चल प्रवेश कराये हुये जीव को ( यत् ) जो ( सुखम् ) सुख ( भवेत् ) होवे वह ( गिरा ) वाणी से ( वर्णयितुम्, न, शक्यते ) कहा नहीं जा सकता क्योंकि ( तदा ) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा ( तत् ) उस ब्रह्म को ( अन्तःकरणेन ) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्णरीति से कभी नहीं आसकता, इसलिये संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १ ॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २ ॥

अर्थः—संन्यासी जगत् के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित होजाता है, इसलिये चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सब का सहन करे, और अधर्म का खंडन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने, परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेदविरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को

अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे, जिस २ कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस २ का उपदेश करे, जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित होजाते हैं उन सब का निषेध करता रहे, विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या योगाभ्यास सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्त्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने न मनवावे । वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्त्ति से भिन्न किसी की मूर्त्ति को पूज्य न समझावे किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे । वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे । आप शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं उन २ अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे । खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े । आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे । परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे । इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे । सर्वदा ( अहिंसा ) निर्वैरता, ( सत्यम् ) सत्य बोलना सत्य मानना सत्य करना, ( अस्तेयम् ) मन कर्म वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये न किसी को करने का उपदेश करे, ( ब्रह्मचर्यम् ) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रख के वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सब का उपकार करता रहे, ( अपरिग्रहः ) अभिमानादि दोष रहित किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे । इन ५ ( पांच ) यमों का सेवन सदा किया करे । और इन के साथ ५ (पांच) नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना, ( सन्तोष ) पुरुषार्थ करते जाना और हानि लाभ

में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना, ( तपः ) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना, ( स्वाध्याय ) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं । हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रख के परममुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये ।

इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः

# अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध पुरुषमेध नरयाग पुरुषयाग भी कहते हैं ॥

**भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ मनु० ॥**

इस शरीर का संस्कार ( भस्मान्तम् ) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥१॥ शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥२॥ ( **प्रश्न** ) जो गरुड़पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डीकर्म, मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं क्या ये सब असत्य हैं ? ( **उत्तर** ) हां, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इसलिये अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का। वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है। ( **प्रश्न** ) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ? ( **उत्तर** ) यमालय को। ( **प्रश्न** ) यमालय किसको कहते हैं ? ( **उत्तर** ) वाय्वालय को। ( **प्रश्न** ) वाय्वालय किसको कहते हैं ? ( **उत्तर** ) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है। ( **प्रश्न** ) क्या गरुड़पुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ? ( **उत्तर** ) अवश्य मिथ्या है। ( **प्रश्न** ) पुनः संसार क्यों मानता है ? ( **उत्तर** ) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम है ॥

**षडियमा ऋषयो देवजा इति ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० १५ ॥**

शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० मं० २ । सू० ५ । मं० १ ॥

यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १३ ॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥ यजु० अ० ८ । मं० ५७ ॥

वाजिनं यमम् ॥ ऋ० मं० ८ । सू० २४ । मं० २२ ॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६ ॥

यहां ऋतुओं का यम नाम है ॥ १ ॥ यहां परमेश्वर का नाम ॥ २ ॥ यहां अग्नि का नाम ॥ ३ ॥ यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥ ४ ॥ यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥ ५ ॥ यहां परमेश्वर का नाम यम है । इत्यादि पदार्थों का नाम यम है इसलिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी हैं ॥ ६ ॥

विधि—संस्थिते भूमिभागं खानयेद्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥ २ ॥ यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥ ३ ॥ वितस्त्यर्वाक् ॥ ४ ॥ केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ५ ॥ द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥ ६ ॥ दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ७ ॥ अथैतां दिशमग्नीन्नयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥ ८ ॥ आश्वलायन० अ० ४ । कण्डि० १ । सू० ६–१७ तथा कण्डि० २ । सू० १ ॥

जब कोई मरजावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां उसको स्नान करावें, चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें, जितना उसके शरीर का भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें, और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है उसको

कोई श्रीमान् वा पंच बन के आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तौल के चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक २ मन घी के साथ सेर २ भर अगर तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल, कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री, श्मशान में पहुंचावे। तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जाय। यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे, वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो। वहां भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें, शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥ १ ॥ मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ॥ २ ॥ उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लंबे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ से ऊपर चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे ॥ ३ ॥ और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे। उस वेदी में थोड़ा २ जल छिटकावे। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां धरे। लकड़ियों के बीच में थोड़ा थोड़ा कपूर थोड़ी थोड़ी दूर पर रक्खे। उसके ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे, और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने, वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिने। जबतक यह क्रिया होवे तबतक अलग चूल्हा बना, अग्नि जला, घृत तपा और छान कर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी २ लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों जिस चमसा में एक छटांक भर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधे। पश्चात् घृत का दीपक करके, कपूर में लगाकर, शिर से आरम्भ कर पाद पर्यन्त मध्य २ में अग्नि प्रवेश करावे। अग्निप्रवेश कराके:—

ओमग्नये स्वाहा । ओं सोमाय स्वाहा । ओं लोकाय स्वाहा । ओमनुमतये स्वाहा । ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ आश्वला० अ० ४ । कं० ३ । सू० २५–२६ ॥

इन पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे । तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक् २ खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायँ, जहां स्वाहा आवे वहां आहुति छोड़ देवे ॥

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः । यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥ २ ॥ अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः । आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥ ३ ॥ अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्व सम्प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च । नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥ ४ ॥ यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः । कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥ ५ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ३ । ४ । ५ । ७ । १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥ ६ ॥ यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनुस्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥ मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः । यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥ ८ ॥ इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः । आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥ ९ ॥ अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व । विवस-

न्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य स्वाहा ॥ १० ॥ प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥ ११ ॥ संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् । हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥ १२ ॥ अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥ यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः । यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत । स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे स्वाहा ॥ १५ ॥ यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन । इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥१६॥ ऋ० मं० १० । सू० १४ ॥ कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् । हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥ १७ ॥ ऋ० मं० १० । सू० २० । मं० ६ ॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह सत्रह आज्याहुति देकर निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें ॥

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अग्नये स्वाहा ॥ ३ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ वायवे स्वाहा ॥ ५ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ६ ॥ सूर्याय स्वाहा ॥ ७ ॥ दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ चन्द्राय स्वाहा ॥ ९ ॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ अद्भ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ वरुणाय स्वाहा ॥ १२ ॥ नाभ्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ पूताय स्वाहा ॥ १४ ॥ वाचे स्वाहा ॥ १५ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १६ ॥ प्राणाय स्वाहा ॥ १७ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १८ ॥ चक्षुषे स्वाहा ॥ १९ ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २० ॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥ २१ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २४ ॥ त्वचे स्वाहा ॥ २५ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २६ ॥ लोहिताय स्वाहा ॥ २७ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३१ ॥

स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३२ ॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३३ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३४ ॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ रेतसे स्वाहा ॥ ३८ ॥ पायवे स्वाहा ॥ ३९ ॥ आयासाय स्वाहा ॥ ४० ॥ प्रायासाय स्वाहा ॥ ४१ ॥ संयासाय स्वाहा ॥ ४२ ॥ वियासाय स्वाहा ॥ ४३ ॥ उद्यासाय स्वाहा ॥ ४४ ॥ शुचे स्वाहा ॥ ४५ ॥ शोचते स्वाहा ॥ ४६ ॥ शोचमानाय स्वाहा ॥ ४७ ॥ शोकाय स्वाहा ॥ ४८ ॥ तपसे स्वाहा ॥ ४९ ॥ तप्यते स्वाहा ॥ ५० ॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥ ५१ ॥ तप्ताय स्वाहा ॥ ५२ ॥ घर्माय स्वाहा ॥ ५३ ॥ निष्कृत्यै स्वाहा ॥ ५४ ॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥ ५५ ॥ भेषजाय स्वाहा ॥ ५६ ॥ यमाय स्वाहा ॥ ५७ ॥ अन्तकाय स्वाहा ॥ ५८ ॥ मृत्यवे स्वाहा ॥ ५९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६० ॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥ ६१ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ६२ ॥ द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ ६३ ॥ यजु० अ० ३९ ॥

इन ६३ ( तिरसठ ) मन्त्रों से तिरसठ आहुति पृथक् पृथक् देके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे ।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते । येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥ ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः । ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥ ३ ॥ तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः । तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ४ ॥ ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ५ ॥ स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥ ६ ॥ अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तन्निर्वहत परि ग्रामादितः । मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार स्वाहा ॥ ७ ॥ यमः परोवरो विवस्वांस्ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा

॥ ८ ॥ अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामददुर्विवस्वते । उताश्विना-वभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥ ९ ॥ इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे । ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात् स्वाहा ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १८ । सू० २ ॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकरः—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥ १ ॥ पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे । यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥ य एतस्य पथा गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥ अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥ अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥ अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥ अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥ यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥ अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥ आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता । आसीदताᳬ सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥ १३ ॥ योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी । यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः । येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥ हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् । अश्वाननश्नतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥ यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् । यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥ १७ ॥ यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदश-र्षयः । यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥ त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत् । गायत्री त्रिष्टुप्छन्दाᳬसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥ अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् । वैव-स्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥ २० ॥ वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥ २१ ॥ ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप । देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणां-

श्चापचित्याति स्वाहा ॥ २२ ॥ यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः । अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥ २३ ॥ उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳ रिषम् । एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात्ते क्षिनोतु स्वाहा ॥ २४ ॥ यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः । यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषां स्वाहा ॥ २५ ॥ न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव । अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥ २६ ॥ तैत्ति॰ प्रपा॰ ६ । अनु॰ १—१० ॥

इन छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब ( ओं अग्नये स्वाहा ) इस मन्त्र से ले के ( मृत्यवे स्वाहा ) तक एकसौ इकीस आहुति हुईं । अर्थात् ४ जनों की मिल के ४८४ ( चारसौ चौरासी ), और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ ( दोसौ बयालीस ) । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एकसौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जाएँ यावत् शरीर भस्म न होजाय तावत् देवें । जब शरीर भस्म होजावे पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृ॰ ८—१२ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन शान्तिप्रकरण का पाठ और पृ॰ ४—८ में लि॰ ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से जहां अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहां स्वाहा शब्द का उच्चारण करके, सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे । यदि उस दिन रात्रि होजाय तो थोड़ीसी आहुति देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण के मन्त्रों से आहुति देवें । तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशानभूमि में कहीं पृथक् रख देवें । बस इस के आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व ( भ-

स्मान्तꣳ शरीरम् ) यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है । हां, यदि वह संपन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या, वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेशकप्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वती-
स्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्मनिरू-
पकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कार-
विधिर्ग्रन्थः पूर्त्तिमगात् ॥

शताब्दी-संस्करण

# ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

पृष्ठ २५६-७२१.

# ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—:o:—

| आवृत्ति | | सन् ई० | | संख्या |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | ... | १८७८ | ... | ३१०० |
| द्वितीय | ... | १८९२ | ... | ५००० |
| तृतीय | ... | १९०४ | ... | ५००० |
| चतुर्थ | ... | १९१३ | ... | ५००० |
| पंचम | ... | १९१९ | ... | ५००० |
| शताब्दीसंस्करण | | १९२४ | ... | १०,००० |
| | | | | ३३,१०० |

ओ३म्

# अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् स॒ह ना॑ववतु । स॒ह नौ॑ भुनक्तु । स॒ह वी॒र्य्यं॑ करवाव॒है । ते॒ज॒स्वि ना॒वधी॑तमस्तु । मा वि॑द्विषा॒वहै॑ ॥ ओ३म् शान्तिः॒ शान्तिः॒ शान्तिः॑ ॥ १ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं, विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥ आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

## भावार्थ

( सह नाव० ) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आप की कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, ( सह नौ भु० ) और हम सब लोग परम-प्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें, ( सहवी० ) हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, ( तेजस्वि० ) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आप के सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, ( मा विद्विषा० ) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र हो के सदा वर्त्तें । ( ओं शान्तिः० ) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक ( आध्यात्मिक ) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा ( आधिभौतिक ) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा ( आधिदैविक ) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है । इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये । जिस से हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें । यही आप से चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

( ब्रह्मानन्त० ) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिस की वेद-विद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ॥ १ ॥ ( कालरा० ) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥ ( दयाया० ) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्हों ने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ ( मनुष्ये० ) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ॥ ४ ॥ ( संस्कृतप्रा० ) सो यह

वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत, इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ॥ ५ ॥ ( आर्य्याणां० ) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्य्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ॥ ६ ॥ ( येनाधु० ) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्यादोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥ ७ ॥ ( सत्यार्थश्च० ) और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॒नि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥ १ ॥ यजुर्वेदे । अध्याये ३० । मन्त्रः ३ ।

## भाष्यम्

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद ! ( देव ) हे सूर्य्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! ( सवितः ) हे सकलजगदुत्पादक ! ( नः ) अस्माकम् ( विश्वानि ) सर्वाणि ( दुरितानि ) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च ( परासुव ) दूरे गमय, ( यद्भद्रं ) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति ( तन्नः ) अस्मभ्यं ( आसुव ) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थ भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया

भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योरेम् ।

## भावार्थ

हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! ( देव ) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आनन्दों के देने वाले हो, ( सवितः ) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, ( नः ) हमारे ( विश्वानि ) सब जो ( दुरितानि ) दुःख हैं उन को और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप ( परासुव ) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये, ( यद्भद्रं ) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये । सो सुख दो प्रकार का है । एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं । ( तन्न आसुव ) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये, और आप की कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें, कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये । जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ।

इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ अथर्ववेदसंहितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४ । सूक्ते ८ । मं० १ । तथा सूक्ते ७ । मं० ३२ । ३३ । ३४ ॥

## भाष्यम्

( यो भूतं च० ) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् ( सर्वं यश्चाधि० ) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति । ( स्वर्य० ) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, ( तस्मै ज्ये० ) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोस्तु नः ॥ १ ॥ ( यस्य भू० ) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, ( अन्तरिक्षमु० ) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानास्ति, तस्मै० ॥ २ ॥ ( यस्य सू० ) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥ ( यस्य वातः० ) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, ( अङ्गिरसः ) अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति निरुक्ते अ० ३ । खं० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोस्तु ॥ ४ ॥

## भावार्थ

( यो भूतं च० ) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है ( भव्यं च ) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, ( सर्वं यश्चाधितिष्ठति ) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता रचता पालन लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, ( स्वर्यस्य च केवलं ) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, ( तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥ ( यस्य भूमिः प्रमा० ) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, ( अन्तरिक्षमुतोदरम् ) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, ( दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम् ) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है ( तस्मै० ) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥ ( यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र० ) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प २ के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये २ रचता है, ( अग्निं यश्चक्र आस्यम् ) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है ( तस्मै० ) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥ ( यस्य वातः प्राणापानौ ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है- ( चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे

चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, ( दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त० ) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाईं हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः। यस्य॑च्छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १३ ॥

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳशान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धयः॒ शान्तिः॑ । वन॒स्पत॑यः॒ शान्ति॒र्विश्वे॑दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्तिः॒ सर्व॒ꣳशान्तिः॒ शान्ति॑रे॒व शान्तिः॒ सा मा॒ शान्ति॑रेधि ॥६॥ यतो॑ यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यङ्कुरु । शन्नः॑ कुरु प्र॒जाभ्योऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ ७ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० १७ । २२ ॥

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजू॑ꣳषि॒ यस्मि॑न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः । यस्मि॑श्चि॒त्तꣳ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० ५ ॥

## भाष्यम्

( य आत्मदाः ) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, ( बलदाः ) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्टयुत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, ( यस्य० ) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, ( यस्यच्छाया० ) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्यच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोस्ति, ( कस्मै० ) तस्मै कस्मै प्रजापतये "प्रजापतिर्वै क"स्तस्मै हविषा विधेमेति । शतपथब्राह्मणे । काण्डे ७ । अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ ( द्यौः शान्तिः० ) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया

च द्यौरन्तरिक्षं, पृथिवी, जलमोषधयो, वनस्पतयो, विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो, ब्रह्म वेदः, सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि । हे भगवन् ! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥ ( यतो य० ) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात्त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम, ( शन्नः कु० ) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥ ( यस्मिन्नृ० ) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, ( यस्मिंश्चि० ) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति, कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव, तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत । हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यते । अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ।

## भाषार्थ

( य आत्मदाः० ) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है, जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिस का आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही

जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्य-विद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञा-पालन ही सब सुखों का मूल है ( कस्मै० ) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥ ( द्यौः शा० ) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही (द्यौः) जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुख-दायक हो, तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देनेवाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये, तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥ ( यतो य० ) हे परमेश्वर ! आप जिस २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो, ( शन्नः कुरु० ) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें, तथा हम से उनको सुख हो और उनको भी हम से भय न हो, तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं उन सब से जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! ( ऋचः ) ऋग्वेद ( साम ) सामवेद ( यजूँषि ) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिसमें स्थिर होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, ( यस्मिँश्चि० ) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो

स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इससे युक्त सदा हो, जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें, जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बना के आप के बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों इसलिये हम लोग आप की प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो।

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

## अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजु० अ० ३१। मं० ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। सूक्त ७। मं० २० ॥

### भाष्यम्

( तस्माद्यज्ञात्स० ) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात्

सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः ( ऋचः ) ऋग्वेदः, ( यजुः ) यजुर्वेदः, ( सामानि ) सामवेदः, ( छन्दांसि ) अथर्ववेदश्च ( जज्ञिरे ) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० कां० १ । अ० १ * । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् † यजुर्वेदे । इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ ( यस्मादृचो० ) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः ( अपातक्षन् ) अपातक्षत् उत्पन्नोस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः ( यजुः ) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः ( आङ्गिरसः ) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन् मुख्योस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः ? अस्योत्तरम् ( स्कम्भं तं० ) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ‡ ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योभिवदति हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं ( निःश्वसितं ) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ।

* ब्रा० २ । कण्डि० १३ ॥ † अ० ३१ । मं० १५ ॥
‡ ब्रा० ४ । कण्डि० १० ॥

## भाषार्थ

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। ( तस्मात् यज्ञात्स० ) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से ( ऋचः ) ऋग्वेद ( यजुः ) यजुर्वेद ( सामानि ) सामवेद और ( छन्दांसि ) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें, और वेदोक्त रीति से ही चलें। ( जज्ञिरे ) और ( अजायत ) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है। वैसे ही ( तस्मात् ) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर ( छन्दांसि ) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं॥ १॥ (यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से ( ऋचः ) ऋग्वेद ( यजुः ) यजुर्वेद ( सामानि ) सामवेद ( आङ्गिरसः ) अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। ( ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है उसको तुम मुझ से कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि ( स्कम्भं तं० ) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका

नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ ( एवं वा अरेऽस्य० ) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस से ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आ के फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत् । जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उन का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इस से इनको नित्य ही जानना ।

अत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ? अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुतः । मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम् । योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्तुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ।

## भाषार्थ

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर

सर्वशक्तिमान् है, उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है, कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आसकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं करसकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही। जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता।

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति। अत्रोच्यते। ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा। कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति। तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा।

## भाषार्थ

प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है। उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है, उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है. वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं॥

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति। एवं प्राप्ते वदामहे। नैव पूर्वोक्तायाशिक्षिताथैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्?, कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति? तस्मात्, किमागतम्? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं

गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति । किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत् । मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात् । स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च । यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्यसमञ्जसम् । तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात् । चक्षुर्वत् । यथा चक्षुर्मनः साहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति । तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञान च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति ।

## भाषार्थ

प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ? उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती । इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता । जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है । क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी

तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता। क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसीसे ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है। और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?, उच्यते। वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ?, अस्ति। सा किमर्थास्ति ?, स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ?, करोति तेन किम् ?, तेनेदमास्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता संपादिता। परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कंदमूलफलतृणादिकं रचितं स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः।

## आशार्थ

प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? उ०—मैं तुम से पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उस की उत्पत्ति वा अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें। प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? उ०—है। प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? । उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है, इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना। जो परमेश्वर अपनी विद्या को हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है। इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता।

क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता । ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता । इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं ।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ? । अत्रोच्यते । अहहह ! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि । किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः । किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः । केषाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम् । ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ?, मैवं वाच्यं, सृष्टयादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन् । कुतः । जडे ज्ञानकार्यासम्भवात् । यत्रार्थासम्भवोस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा, कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति । अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते । तथैवात्रापि विज्ञायताम् । विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति । अत्र प्रमाणम् । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः । श० कां० ११ । अ० ५ * । एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः । सत्यमेवमेतत् । परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते । मैवं विज्ञायि । ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम् ?, वेदप्रकारकम् । तदीश्वरस्य वा तेषाम् ? ईश्वरस्यैव । पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ? । निश्चयकरणार्था ।

## भाषार्थ

प्र०—वेदों के रचने और वेद-पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये ? क्योंकि उस समय में कागज़ आदि

* ब्रा० २ । कण्डिका ३ ॥

पदार्थ तो बने ही न थे। उ०—वाह वाह जी आपने बड़ी शङ्का करी आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें। अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे ? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किनके ज्ञान में ?। उ०—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं ? उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्य-देहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहां २ असम्भव होता है वहां २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मञ्चान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इसमें ( तेभ्यः० ) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ? उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ? उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के ? उ०—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी ? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ?, न्यायकारी । तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति ?, अत्राह । अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति, कुतः, न्यायेत्यस्यैव नामाऽस्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यम् । तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति । किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?, अत्र ब्रूमः । सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादय,स्तेषां कर्म्माणि, सर्वं कार्य्यं जगच्च, प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

## भाषार्थ

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ?, उ०—न्यायकारी । प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है । उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया । प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहां से आया ?, उ०—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं । इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी ।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?, इयं कुतः शङ्काभूत् ?; किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ?, अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति । चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् । मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तो-

पदेशः शब्दः ॥ न्यायशास्त्रे अ० १। सू० ७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च * । अस्यैवोपरि † । आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्त, इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति ।

## भाषार्थ

प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है ?, उ०—यह शङ्का आप को कहां से हुई ? प्र०—मैं तुम से पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ?, उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है । अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आप की यह शङ्का भी निर्मूल है। प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं ?, उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है ( आप्तो० ) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं । इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थ-विद्याओं का जाननेवाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, और जो पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त

* न्याय अ० २ । आह्नि० २ । सू० २ ॥ † न्याय अ० १ । आह्नि० १ । सू० ७ ॥

हो उसको आप्त कहते हैं। उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ? मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०, इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य* विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ १॥ अ० १†। अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। अ० २‡। इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा।

## भाषार्थ

प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हों ने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?। उ०—ऐसा मत कहो। क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने

* अ० ६। श्लो० १८॥ † श्लो० २३॥ ‡ श्लो० १५१॥

ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था। इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति? अर्थवशात्। (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा, (श्रु) श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः। निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धमग्निवाय्वादित्याङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

## भाषार्थ

प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

उ०—अर्थभेद से। क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ

है, तीसरे ( विद्लृ ) का लाभ अर्थ है, चौथे ( विद ) का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में घञ् प्रत्यय करने से वेद-शब्द सिद्ध होता है। तथा ( श्रु ) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है । जिन के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इस से ऋक्संहितादि का वेद नाम है । वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है । क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं । तथा अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था । क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई । किन्तु इससे यह जाना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ? । अत्रोच्यते एको । वृन्दः, षण्णवतिः कोटयो,ऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति ( १९६०८५२९७६ ) वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति । कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ? । अत्राह,ास्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा—स्वायम्भवः, स्वारोचिष, औत्तमि,स्तामसो, रैवत,श्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा, सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा (१४) चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रै-

कसप्ततिश्चातुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने (१४) चतुर्दशसुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं (१०००) चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति (४९७६) चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति ।

## अत्र विषये प्रमाणम्

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तान्निबोधत ॥ १ ॥ चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यत ॥ ४ ॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥ तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १ * ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम् । एकं दश शतं चैव

* श्लो० ६८–७३, ७६, ८० ॥

सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥ वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥ इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ । मं० ६५ ॥ सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि ॥ श० कां० ७ । अ० ५ * ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति । कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोस्ति, मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्य्यैर्नित्यमोंतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते चेत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्ययुगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।

## भाषार्थ

**प्रश्न**—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं ? । **उत्तर**—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर अर्थात् ( १९६०-८५२९७६ ) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवां ( ७७ ) वर्त्त रहा है ? प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ? । उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें ( ७ ) वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं । स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६,

* ब्रा० २ । काण्ड० १३ ॥

ये छः तो बीतगये हैं और ७ ( सातवां ) वैवस्वत वर्त्त रहा है, और सावर्णि आदि ७ ( सात ) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि ( १७२८००० ) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। ( १२९६००० ) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता। ( ८६४००० ) आठ लाख, चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और ( ४३२००० ) चार लाख, बत्तिस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्य्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के ( ४३२०००० ) तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर ( ७१ ) चतुर्युगियों के अर्थात् ( ३०६७२०००० ) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे ६ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् ( १८४०३२०००० ) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह ( २८ ) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के ( ४९७६ ) चार हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाक़ी ( ४२७०२४ ) चार लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिये कि ( १२०५३२९७६ ) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और ( १८६१८७०२४ ) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाक़ी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष ( ७७ ) सतहत्तरवां है, जिस को आर्य्य लोग विक्रम का ( १९३३ ) उन्नीससौ तेतीसवां संवत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का

नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके ( १९६०८५२९७६ ) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और ( २३३३२२७०२४ ) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाक़ी रहे हैं। इनम से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आजपर्य्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार ( १२००० ) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी हैं। और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है। वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की है। और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि ( एकं दशशतं चैव ) एक ( १ ), दश ( १० ), शत ( १०० ), हज़ार ( १००० ), दशहज़ार ( १०००० ), लाख ( १००००० ), नियुत ( १०००००० ), करोड़ ( १००००००० ), अर्बुद ( १०००००००० ), वृन्द ( १००००००००० ), खर्व ( १०००००००००० ), निखर्व ( १००००००००००० ), शंख ( १०००००००००००० ), पद्म ( १००००००००००००० ), सागर ( १०००००००००००००० ), अन्त्य ( १००००००००००००००० ), मध्य ( १०००००००००००००००० )

और परार्द्धर्य (१०००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है *। (सहस्रस्यप्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा लीजाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है। सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन २ गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति "ओं तत्सत्" परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बही खाते की नाईं लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)। यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इस के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु अयन मास पक्ष दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन, चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना

* कहीं २ इसी संख्या को १९ (उन्नीस) अङ्क पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना।

और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं, और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्य्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से ले के बराबर मिती-वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और इस से यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से ले के आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं। जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इस को सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है। यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इसकी व्याख्या आगे करेंगे वहां देख लेना चाहिये, यहां इस का प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा।

**एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्-त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलम-**

स्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ।

## भाषार्थ

इससे जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है । और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतसि सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, इनकी यह भी बात झूठी है । क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता । इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है । क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे ।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

## अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

## भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है, सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः। न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम्। मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च। कुतः। यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

## भाषार्थ

प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है?। उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य। इन में से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है, इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वी-

क्रियते ? । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत् क्रियापक्षे च, नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृग्वेदे । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति * । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्य्यं, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ।

## भाषार्थ

प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव होजाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती । क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी कागज़ पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं । यह जो मसीलिखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है, और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं । सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं । जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प

* ऋ० १० । १९० । ३ ॥

में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः॥ नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति। इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति। तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। इदम्, अइउण् सूत्रभाष्ये चोक्तमिति। अस्यायमर्थः। वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः। शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्। उपजन आगमः। विकार आदेशः। एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः।

## भाषार्थ

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता। तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है, बुद्धि से जो

जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। इस से वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं, क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इन में लोप, आगम और विकार नहीं बन सकते। इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते ?। इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः। सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाघ्वदाबित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः। सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा। वेदपार। गम्। ड। सुँ। भू। शप्। तिप्। इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन्प्रयुक्तसमुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अम् ड् उँ श् प् इ प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः। शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशोपाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमो, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्य्येति। ( श्रोत्रोपलब्धिरिति ) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो, यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्। उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति।

## भाषार्थ

प्र०—गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप, आगम

और विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे वेदपारगम् ड सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इप् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की बुद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनिजी का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं। सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उस के क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति अन्य २ होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति। अनुच्चारितोऽनागतो भवति। वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्?। अत्रोच्यते। नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति। किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च। तद्यथा। गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे, यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वैदिकानामिति।

## भाषार्थ

प्र०—शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट होजाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारणक्रिया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य

हो सकता है, फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते । जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं । जैसे गौः इस के उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती । इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं । किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता । इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं । जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् । नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । पूर्वमीमांसा, अ० १, पा० १, सू० १८ । अस्यायमर्थः । ( तु ) शब्देनानित्यशङ्का निवार्य्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत्संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ।

## भाषार्थ

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है । शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है उसका ( तु ) शब्द से निवारण किया है । शब्द नित्य

ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जनाने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य हैं, जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिके, अ० १, आ० १, सू० ३। अस्यायमर्थः। तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्।

## भाषार्थ

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणादमुनि ने भी कहा है, (तद्वचना०)। वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह। मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। अ० २, आ० १, सू० ६७। अस्यायमर्थः। तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्य्यम्। कुतः ?, आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः।

किंवत् ?, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति। यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति। तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्याऽपि प्रामाण्यमङ्गीकार्य्यम् । एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्त्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् *। अस्यायमभिप्रायः । यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ।

## भाषार्थ

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, ( मन्त्रायु० ) । वेदों को नित्य ही मानना चाहिये, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं । उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये । क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता । उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है । जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी

* उपलभ्यमानेषु वात्स्यायनभाष्येषु "दित्युक्तामि,ति" स्थाने "दित्ययुक्तामि"ति पाठो वर्त्तते ॥

प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता। ( मन्त्रायु० ) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं, जो २ उस २ मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं। जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। पातञ्जलयोगशास्त्रे, अ० १, पा० १, सू० २६। यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां स सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः। स च सर्वदा नित्योस्ति। तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति।

## भाषार्थ

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, ( स एष० )। जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, आङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेदद्वारा

सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिस में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्य्योऽप्यत्राह। निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्। सू० ५१॥ अस्यायमर्थः। वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्य-नित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति।

## भाषार्थ

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं, (निज०)। परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह। शास्त्रयोनित्वात्, अ० १, पा० १, सू० ३। अस्यायमर्थः। ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोप्यधिकतरविज्ञानइति सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्य्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतं, सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च। भवितुमर्हति। अन्यच्च। तस्मिन्नेवाध्याये। अतएव च नित्यत्वम्, पा० ३, सू० २९। अस्यायमर्थः। अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नि-

त्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किंत्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेणवन्तान् पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

## भाषार्थ

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, ( शास्त्र० ) । इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं, उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव कभी नहीं हो सकता । किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है । जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है । उन में विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है । सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं । और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है । किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा शंकराचार्य्य ने भी कहा है । इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है । और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता । ( अतएव० ) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं । और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है । तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे

अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्य्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह। सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४०। मं० ८। अस्यायमभिप्रायः। यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोस्ति (स, पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान्प्राप्तवानास्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति, (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणं) नैवैतस्मिँश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अतएव छेदरहितत्वादक्षतम्, (अस्नाविरं) तन्नाड़ीसम्बन्धरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्त्तमानोस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थाद्यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अतएव नैव वेदानामनियतत्वं केनापि मन्तव्यम्। तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

### भाषार्थ

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्र-

माण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं। ( स, पर्यगात् ) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म ( शुक्रं ) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है, ( अकायं ) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, ( अव्रणं ) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथ है, ( अपापविद्धम् ) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, ( कविः ) जो सब का जानने वाला है, ( मनीषी ) जो सब का अन्तर्यामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, ( परिभूः ) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, ( स्वयंभूः ) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सब का माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उसके सब सुखों के लिये ( अर्थान् व्यदधात् ) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति तथा युक्त्यापि। तद्यथा। नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति।

इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुतः ?, यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति । बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवेच्चेत्तदा बन्ध्यात्वं न सिध्येत्, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथमुपदिशेत् । स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद्दृश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते (तस्य) तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यथा । एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणं, न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ।

## भाषार्थ

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती । इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है, क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा । यह उसकी बात असम्भव है ; क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह बन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं । वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश

कैसे कर सकता और वह जगत् को भी कैसे रच सकता। जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है। इस में और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं। देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं। जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहा होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन के पढ़ के और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः, मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति? । एवं प्राप्ते ब्रूमः . एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्। तत्रैव निर्णयः, यथानेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्। अशिक्षितबालकवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा। तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्। यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य

नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्य्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति । अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवन्नित्यम् ॥ १॥ वैशेषिके, अ० ४, पा० ४, सू० १ ॥ अस्यायमर्थः । यत्कार्य्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्य्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति तन्नित्यं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति, कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेऽपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवियोगारम्भो भवति स तस्मात्पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभूतस्य सदानिर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

## भाषार्थ

प्र०—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना ?। उ०—इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है, वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इस में अशिक्षित बालक और बनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं, इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है। जो नित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन का आधार नित्य है। और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं। सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना। और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं, फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को

ही नाश कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य्य और अनित्य कहते हैं, और जो संयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको नित्य कहते हैं। इस में कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है। (सत्कार०) जो किसी का कार्य्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो उसको नित्य कहते हैं। क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म, नियम और कार्य्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है। इसी प्रकार यह अनवस्थाप्रसंग अर्थात् मर्यादारहित होता है। जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उस के कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थ के नियम

करने में समर्थ नहीं होते, जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है। तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

## अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्य्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः। अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥ तस्य वाचकः प्रणवः। योगशास्त्रे, अ० १। पा० १। सू० २७॥ ओ३म् खं ब्रह्म। यजुः अ० ४०॥ ओमिति ब्रह्म। तैत्तिरीयारण्यके, प्र० ७। अनु० ८॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥ यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र-

१ अद्रेश्यमित्युपनिषदि पाठः॥

मवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ मुण्डके १ । खण्डे १ । मं० ५ । ६ ॥ एषामर्थः । ( सर्वे वेदाः० ) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोंकारवाच्यमस्ति । ( तस्य० ) तस्येश्वरस्य प्रणव ओंकारो वाचकोस्ति, वाच्यश्चेश्वरः । ( ओम्० ) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, ( तपांसि ) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, ( यदिच्छन्तो० ) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नभ्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ ( तत्रापरा० ) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तते अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते । यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम् ।

## भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उन में से चार मुख्य हैं ( १ ) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना ( २ ) दूसरा कर्म ( ३ ) तीसरा उपासना और ( ४ ) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्य्यन्त पदार्थों का साक्षाद्बोध का होना, उन से यथावत् उपयोग का करना । इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य्य है । सो भी दो प्रकार का है, एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस की आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत्

विचार के उनसे कार्य्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। इस में आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं। ( सर्वे वेदाः० ) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो के सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिस के नाम ( ओम् ) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है। ( तस्य० ) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। ( ओम् खं० ) तथा ( ओमिति० ) ओम् और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उस की प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं। और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकाररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्य्यामी परमात्मा को समझना चाहिये। ( तत्रापरा० ) वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा, दूसरी परा। इन में से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्य्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

अन्यच्च। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ १ ॥ ऋग्वेदे। अष्टके १। अध्याये २। वर्गे ७। मन्त्रः ५ ॥

अस्यायमर्थः। यत् ( विष्णोः ) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, ( परमं ) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, ( पदं ) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् ( सूरयः ) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत् ( आततम् ) आ समन्तात्ततं विस्तृतं, यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव ? ( दिवीव चक्षुराततम् ) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति। एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोप्याह। तत्तु समन्वयात्। अ० १। पा० १। सू० ४। अस्यायमर्थः। तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया च। अतः परमोर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ य० अ० ८। मं० ३६। एतस्यार्थः। ( यस्मात् ) नैव परब्रह्मणः सकाशात् ( परः ) उत्तमः पदार्थः ( जातः ) प्रादुर्भूतः प्रकटः ( अन्यः ) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति, ( प्रजापतिः ) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात्, ( य आविवेश भु० ) यः परमेश्वरः ( विश्वा ) विश्वानि सर्वाणि ( भुवनानि ) सर्वलोकान् ( आविवेश ) व्याप्तवानस्ति, ( सꣳरराणः ) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् ( त्रीणि ज्योतीꣳषि ) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि ( प्रजया ) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि ( सचते ) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, ( सः ) अतः स एवेश्वरः ( षोडशी ) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोर्थो वेदितव्यः॥ ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति। अस्यायमर्थः। ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेतोऽयं

प्रधानविषयोस्तीत्यवधार्य्यम् । किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात् । एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्त्तव्यमिति ।

## भाषार्थ

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि ( तद्वि० ) । ( विष्णुः ) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का ( परमं ) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप ( पदं ) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को ( सूरयः ) विद्वान् लोग ( सदा पश्यन्ति ) सब काल में देखते हैं । वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है । इस में यह दृष्टान्त है कि ( दिवीव चक्षुराततम् ) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है । उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है । इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं । इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है ( तत्तुसमन्वयात् ) । सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं २ साक्षात्रूप और कहीं २ परम्परा से । इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है । तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि ( यस्मान्न जा० ) । जिस परब्रह्म से ( अन्यः ) दूसरा कोई भी ( परः ) उत्तम पदार्थ ( जातः ) प्रकट ( नास्ति ) अर्थात् नहीं है, ( य आविवेश भु० ) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है,

( प्रजापतिः प्र० ) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिस ने ( त्रीणि ज्योतीꣳषि ) अग्नि सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये ( सचते ) रचके संयुक्त किया है और जिस का नाम ( षोडशी ) है, अर्थात् ( १ ) ईक्षण जो यथार्थविचार ( २ ) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला ( ३ ) श्रद्धा सत्य में विश्वास ( ४ ) आकाश ( ५ ) वायु ( ६ ) अग्नि ( ७ ) जल ( ८ ) पृथिवी ( ९ ) इन्द्रिय ( १० ) मन अर्थात् ज्ञान ( ११ ) अन्न ( १२ ) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम ( १३ ) तप अर्थात् धर्म्मानुष्ठान सत्याचार ( १४ ) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या ( १५ ) कर्म अर्थात् सब चेष्टा ( १६ ) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इससे उस को षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के (६) छठे प्रश्न में लिखा है। इस से परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इस से क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य

खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदाचार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति । अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् । स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्य्येव भवति । यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयंत्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोधिकतया स्वसुखायैव भवति ।

## भाषार्थ

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिस के बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं । एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की ( स्तुति ) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना, ( प्रार्थना ) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, ( उपासना ) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये । तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना । इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है । सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है, क्योंकि इस में संसार के भोगों की

कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इस का फल अक्षय है। और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उसको सकाम कहते हैं। इस हेतु से इस का फल नाशवान् होता है, क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्म मरण से नहीं छूट सकता। सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इस से सब जगत् को सुख होता है। और जिस को भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्। द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ अ० ४। पा० ३। सू० १॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ अ० ४। पा० ३। सू० ८॥ अनयोरर्थः। द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्। यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति॥ ऐ० ब्रा० मं० १। अ० २॥ जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ

होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ।

## भाषार्थ

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है ( द्रव्य० ) । एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करना चाहिये । सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है । जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है । इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि ( यज्ञोपि त० ) । अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा । इसलिये यज्ञ का अर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है । परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये । सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं ।

* इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ।

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥ श० कां० ५ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । अग्नेः सकाशाद्धूमबाष्पौ जायेते यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोस्ति । अतएवोभयभागयुक्तो धूमइत्युपचर्य्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्य्याच्छरीराणि भवन्तीति ।

भाषार्थ

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है, कि ( अग्ने० ) । जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उन में जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है । जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उन से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । आनन्दवल्ल्यां * प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत् तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् † । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि

* ब्रह्मवल्ल्यामेषपाठः, † उपनिषदि व्यजानादिति पाठः ॥

जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती,ति भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ।

## भाषार्थ

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि ( तस्माद्वा० ) । परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है । वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं । जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्य्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्ट्यावोषध्यन्नरतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ।

## भावार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है। एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का। उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं। क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इसको जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है।

कुतः। सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते। न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः। तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति।

## भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है।

**तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोग-विशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्मा-धर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वो-पकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव ।**

## भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इस से वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ? अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद्दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ? । अष्टविधं चेति । किंच तत् ? । अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ । आह्निकम् १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ ॥ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् ॥ २ ॥ उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ३ ॥ शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

## भाषार्थ

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये ? उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का ।

प्र०—कौन २ से ? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७ और अभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं। ( इन्द्रियार्थ० ) इन में से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो, जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥ १ ॥ ( अथ तत्पू० ) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है, जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि हैं वा अवश्य थे इत्यादि उसके उदाहरण हैं ॥ २ ॥ ( प्रसिद्ध० ) तीसरा उपमान कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उस के पास जाके इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान कहते हैं ॥ ३ ॥ ( आप्तोप० ) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥५॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥६॥ अ० २ । आ० २ । सू० १ । २ ॥ न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोर्थः क्रियते । ( ऐतिह्यं ) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम् । देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥ ५ ॥ ( अर्थापत्तिः ) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः, केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति । किमत्र प्रसज्यते ? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥ ( सम्भवः ) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोस्तीति वाच्यम् । परन्तु कश्चिद्ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते,

इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥ ( अभावः ) कोपि ब्रूयाद् घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

### भाषार्थ

( ऐतिह्यम् ) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है, जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे । जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रन्थों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । यह पांचवां प्रमाण है ॥ ५ ॥ और छठा ( अर्थापत्तिः ), जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे, जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती, इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ सातवां ( संभवः ), जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है, परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक ( १६ ) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवां ( अभावः ), जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं । यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है * । उ०—यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता । इस से इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ।

* कहीं २ शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, संभव और अभाव को मानने से ४ ( चार ) प्रमाण रहते हैं ।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् । ( णश् ) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः, ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

## भाषार्थ

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कण आंख से नहीं दीखते, क्योंकि ( णश् ) धातु का अदर्शन ही अर्थ है, जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है । और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब वह देखने में आता है । और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न होसके । परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहांतक कि जब पर्य्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्य्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ।

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव, न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि द्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति । तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान्ह्युपकारो भवति सुखं चातःकारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां

मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ? । नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

## भाषार्थ

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये । प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०—यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता, फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

## भाषार्थ

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब

वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्।

## भाषार्थ

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति। परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति।

## भाषार्थ

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीज़ों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है । इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म होके जाता आता है । परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा । परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है । इन से अन्य भी होम करने के बहुतसे उत्तम फल हैं उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे ।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते ? । अत्र ब्रूमः । एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् ।

## भाषार्थ

प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ? उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है । प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं । क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना

और उपासना होती है। तथा होम से जो २ फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति ? अत्रोच्यते। नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च। अत्रार्थे मनुराह। त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ १ ॥ अ० १। श्लो० ३॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ २ ॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ३ ॥ अ० १२। श्लो० ९७। ९९॥

## भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है ?
उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है उसका भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से

नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है, क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि ( त्वमे० )। मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥ १॥ ( चातु० ) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥ २ ॥ क्योंकि ( बिभर्त्ति० ) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है।

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति ? । अत्र ब्रूमः । यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं, नेतरत् । तद्यथा । भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति । तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते । तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते । एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव, परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति । किंतु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम् । कुतः । तैर्विना तदसिद्धेः ।

## भाषार्थ

प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिये ? उ०—करना तो चाहिये,

परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के, उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है, कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावे। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें। परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है, किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य अच्छा बने वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

**यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते ? । याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि । अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ १ ॥ यजुः अ० १४ । मं० २० ॥**

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः, सूर्य्य,श्चन्द्रमा, वसवो, रुद्रा, आदित्या, मरुतो, विश्वेदेवा, बृहस्पति,रिन्द्रो, वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते, तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

## भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है ? उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि ( अग्निर्देव० ) । कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन २ मंत्रों में अग्नि आदि शब्द हैं उन २ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे । नि० अ० १ । खं० २ ॥ अथातोदैवतं, तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च । नि० अ० ७ । खं० १ ॥ अस्यार्थः । ( कर्मसं० ) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते, तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोपि मन्त्रो मंत्रार्थश्चाग्नीकार्य्यः । अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते ? यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रो-

ङ्गानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा । अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे । देवाँ २॥ आसादयादिह ॥ १ ॥ यजुः अ० २२ । मं० १७ ॥ अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयं ? यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति । यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोस्ति तदेव दैवतमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते । ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । किंच यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचः । याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति । परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोस्ति ताः-परोक्षकृताः, यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः, आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं, तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति । एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम् ।

## भाषार्थ

( कर्मसं० ) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है । ( अथातो० ) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ अर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है । जैसे ( अग्निं दूतं० ) इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये । ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता

समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। सो देवता शब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है। इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है। सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका, नाराशंसा इति नैरुक्ता, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वास्तिह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति। नि० अ० ७। खं० ४॥ ( तद्येनादि० ) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते। यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति, तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं, कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्यज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।

## भाषार्थ

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध

नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है । (अग्निमीडे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें । तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं । और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है । तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं । इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं । परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं ।

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः ।

## भाषार्थ

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं । परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है ।

अन्यच्च । देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा ॥ नि० अ० ७ । खं० १५ ॥ मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् ॥ निरु० अ० ७ । खं० १२ ॥ अस्यार्थः । ( देवो दानात्० ) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, ( दीपनात् ) दीपनं, प्रकाशनम्,

( द्योतनात् ) द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो, विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्य्यादयो, द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च । ( द्युस्थाने ) तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः, प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति कठ० वल्ली ५ । मं० १५ ॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति, प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योस्तीति मन्यध्वम् ।

## भाषार्थ

( देवो दाना० ) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज़ दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को । इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं । ( दीपन ) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं । इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सर्व जगत् प्रकाशित हो रहा है, इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है, इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ॥ य० अ० ४० । मं० ४ ॥ अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता, देवात्तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् । स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति । यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोपि न त्रुट्यतीत्यादिगुणकथनमतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ।

## भाषार्थ

( नैनदेवा० ) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है और देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है । जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं । क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है । इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष् के मान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं ।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्म्मकाण्डं प्रत्यास्ति । उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्म्मकाण्डस्य निष्कामभागेपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो भागोस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्भेदो भवति । परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोस्ति ।

## भाषार्थ

इसी प्रकार सर्वत्र: जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है, क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसें कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम्। माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। कर्मजन्मान, आत्मजन्मान, आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्वा, * आत्मायुधमात्मेषव, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ नि० अ० ७। खं० ४। (माहाभाग्याद्दे०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः। आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः। सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्रव्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता, वक्ष्यन्ते च, ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो, यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वागमनहेतवः। स आयुधं विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मंगलकारी वर्त्तते। नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

* अश्व इति निरुक्ते पाठः॥

## भाषार्थ

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करने वाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है, क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्। ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १ ॥ त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४। मं० ३१ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा। निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ ३ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २३। २७ ॥ सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव, एकादश रुद्रा. द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति ?, अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं, चादित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेतेहीदꣳसर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा, आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति ? द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः।

एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽध्यर्ध इति ? योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति ? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ६ ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥ अथैषामर्थः ॥ वेद-मन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रति याज्ञ-वल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति । तत्र ( वसवः ) अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च। एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्य्यलोकस्तस्य प्रकाशोस्ति द्यौः सूर्य्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव । कुत एते वसव इति ?, यद्यस्मा-देतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति, किंच सर्वेषां वा-साधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् । ( एका-दश रुद्राः ) ये पुरुषेऽस्मिन्देहे । प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा, एकादश आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा ? इत्यत्राह, यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति, यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम् । ( द्वादशादित्याः ) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वाद-श मासा आदित्या विज्ञेयाः । कुतः ? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्था-दासमन्ताद्गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति, तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः

परमैश्वर्य्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशवइति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्। त्रयो लोकास्त्रयो देवाः। के त? इत्यत्राह निरुक्तकारः, धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति॥ नि० अ० ६। खं० २८॥ त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको, मनोन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः॥ श० कां० १४। अ० ४ *॥ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः। किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह, नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्तृ, सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं, सर्वोपास्यं, सर्वाधारं, सर्वव्यापकं, सर्वकारणमनादि, सच्चिदानन्दस्वरूपमजं, न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योस्तीति मन्यध्वम्। ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः। अत्र प्रमाणम्। आत्मेत्येवोपासीत, स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति। योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्॥ श० कां० १४। अ० ४ †॥ अनेनार्य्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति।

## भाषार्थ

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०)। अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं। (८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, (१) एक इन्द्र और एक प्रजापति। उन में से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। इन

* ब्रा० ३। कण्डि० ११। † ब्रा० २। कण्डि० १६, २२।

का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं। ( ११ ) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है, क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उस के सम्बन्धी लोग रोते हैं, वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है। इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इन का नाम आदित्य है। ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है, तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है, ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं। और तीन देव स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सब का धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अध्यर्धदेव कहते हैं। प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ? उ०—इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहार-मात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है ( स ब्रह्म० )। जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सब का इष्ट, सब को उपासना के योग्य, सब का धारण करने वाला, सब में व्यापक और सब का कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये, क्योंकि ( आत्मेत्ये० ) इस में आर्य्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। इस में जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़

के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है, जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा। क्रीडा। विजिगीषा। व्यवहारः। द्युतिः। स्तुतिः। मोदः। मदः। स्वप्नः। कान्तिः। गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति, स च स्वयंप्रकाशोस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लेपनं दीनता। एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुषंगितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं, स्थापनं च। मोदो हर्षः। प्रसन्नता कान्तिः, शोभा। गतिर्ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते। अतोन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

## भाषार्थ

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इन में इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक सब का पूज्यदेव है।

और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का चौथा निद्रा और पांचवां मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं, क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान, गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं, क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

अत्र केचिदाहुः। वेदेषु जड़चेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते ?। अत्रोच्यते। मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रचितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रचितास्ति। अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वजनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्क्षतिरस्ति। कुतः। वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

## भाषार्थ

**प्रश्न**—इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है। **उत्तर**—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे

हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है, यह लोक में व्यवहार है। इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजा विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां २ उपासना-व्यवहार लिया जाता है वहां २ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥ प्रपा० ७। अनु० ११॥ त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥ प्रपा० ७। अनु० १॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।

## भाषार्थ

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है। एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पांचदेव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि, वायुरन्तरिक्षं, द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुर्विधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते।

इत्थमेव मातृपित्राचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्त्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ।

## भाषार्थ

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं । तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां विजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं * । इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये । इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है । परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है ।

अत इदानींतनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

## भाषार्थ

प्र०—कितने ही आजकल के आर्य्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज

* इन्द्रियों की शक्तिरूपद्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्त्तिमान्, तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये ।

आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। उ०—यह उन का कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उन में से थोड़े से यहां भी लिखते हैं।

अत्र प्रमाणानि। (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि, इन्द्रं मित्रमृ०। ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरीममेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा तदेवाग्निस्तदादित्य० इति यजुर्मन्त्रश्च। तमीशा॑नं जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं॑ जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम्। पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ १॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥ हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्। स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥ इत्यादयो नव मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति। प्रतद्वो॑चेद॒मृतं॒ नु वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॒ विभृ॑तं॒ गुहा॒ सत्। त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुः पि॒तास॑त्॥ ३॥ स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त॥ ४॥ प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च। उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भिसंवि॑वेश॥ ५॥ य० अ० ३२। मं० ६। १०। ११॥ वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्। तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय॥ ६॥ य० अ० ३१। मं० १८॥ तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के। तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः॥ ७॥ य० अ० ४०। मं० ५॥ स प॒र्य्यगाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑-

१—निरु० अ० ७। खं० १८॥ २—अ० ३२ मं० १॥ ३—यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८॥

त्यादि च ॥ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होतान्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ २॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ । मं० १७ । १८ । १९ ॥ इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११ । अभित्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यंतस्त्वा हवामहे ॥१२॥ इत्यादयश्च ॥ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे । अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्य्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिता स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयोऽथर्ववेदेपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो

नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥५॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि ॥ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः ॥ ६ ॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुण्डकोपनिषदि ॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥ इति माण्डूक्योपनिषदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् । परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥ ९ ॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं * स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि ॥ वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोस्ति, स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद्विदित्वोपासितोस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु भट्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ।

## भाषार्थ

( इन्द्रं मित्रम्० ) इस में चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान् इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है उसी की उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं । इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है उन का आगे

* सह ब्रह्मणेत्युपलभ्यमानोपनिषदि पाठः ॥

वेदभाष्य में किया जायगा और कोई २ आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले अंगरेज़ कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे। यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे, इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आसकती।

## भाष्यम्

किंच। हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति० एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्मक्षमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न संगच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो, द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धि-प्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं, यथाह्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकाधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि। अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यादीनि ज्ञातव्यानि। तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः। हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थ-ज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि। ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम्॥ श० कां० ६। अ० ७॥ केशी केशारश्मयस्तैस्तद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ नि० अ० १२। खं० २५॥ यशो वै हिरण्यम्॥ ऐ० पं० ७। अ० ३॥ ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्म-ज्योतिः॥ श० कां० १४। अ० ७॥ ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ श० कां० १०। अ० ४। एषामर्थः। ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो, ज्योतिरमृतं मोक्षो, ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशकालोकाश्च यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्य्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः। अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयो-

गान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनत्वे किमपि-प्रमाणं नोपलभामह इति । तद्भ्रममूलमेव विज्ञेयम् । यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे अग्निः पूर्वेभिरित्यादिकारणं तदपि तादृशमेव । कुतः । ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्त्वेदमुक्तमित्यदोषः । अन्यच्च । ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यतश्च ।

## भाषार्थ

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं । इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दोसौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र । उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो । उसकी उत्पत्ति में ( ३१०० ) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में ( २९०० ) उनतीससौ वर्ष हुए हैं । उस में ( अग्निः पूर्वेभिः० ) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है । सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने ( हिरण्यगर्भः० ) और (अग्निः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है । तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के

प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के, और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादिलोक जिस के गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति, इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इस से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने ( अग्निः पूर्वेभिः० ) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है, इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

## भाष्यम्

अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम्। तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्था[1]-भ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्य्यवित्सु

१–मन्त्रार्थेति पदस्य परस्ताच्चिन्तेति पदमाधिकन्निरुक्ते ॥

तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्ता,न्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य, एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥ नि० अ० १३ । खं० १२ ॥ अस्यार्थः । ( तत्प्रकृती० ) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति । न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । अत्रेतिहासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं ? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धं ? यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते, प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः । तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति । अतः पूर्वेभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः, स्तोतव्य, उपास्योस्तीति निश्चयः । एवमग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्ववर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ।

## भाषार्थ

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है ( तत्प्रकृतीत० ) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उन के सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है।

## भाष्यम्

अन्यच्च। प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥ ऐ० पं० २। अ० ४॥

पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः

सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।

## भाषार्थ

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के कार्य्य में जो प्राण हैं उन को नवीन कहते हैं । इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है । इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है ।

## भाष्यम्

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोस्तीति, तदप्यसंगतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्यास्काचार्य्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसिच्छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम संमितमृचा ॥ नि० अ० ७ । खं० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः । तथा चन्देरादेश्च छः इत्यौणादिकं सूत्रम् । चदि आल्हादने दीप्तौ चेत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आल्हादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः । छन्दाँसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदँ सर्वं वयुनं नद्धम् ॥ श० कां० ८ । अ० २ ॥ एता वै देवताश्छन्दाँसि ॥ श० कां० ८ । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । मत्रि गुप्तपरिभाषणे, अस्माद्धलश्चेति सूत्रेण घञ् प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने, अस्माद्धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन

यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः । तदवयवा अग्निमीळेपुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वा-देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येव देवाः वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्या-निबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ, इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते । श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः । श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुति,र्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ।

## भाषार्थ

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं । भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है । वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्रप्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं । तथा उन का मन्त्र नाम इसलिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है । और श्रुति इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं । ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं । इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये ।

## भाष्यम्

तथा व्याकरणेपि । मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम् । अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥ छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥२॥ अ० ३ । पा० ४ । सू०६ ॥ वा षपूर्वस्य निगमे ॥३॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ९ ॥ अत्रापिच्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्द आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ।

## भाषार्थ

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचारः

## अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोयं वेदो नाम ? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति ?। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति।

## भाषार्थ

प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्रसंहिताओं का। प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है, फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ? उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है, और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती, और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है।

## भाष्यम्

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति

न चैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ? । मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणौ मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम् । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥ श० कां० ८ । अ० १ ॥ कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः ॥ शत० कां० ७ । अ० ५ । अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मन आदीनां च ( यद्देवेषु त्र्यायुषम् ) अत्र प्रमाणम् । विद्वाᳬसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ ॥ अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति ( तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपादिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते । अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

## भाषार्थ

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही ( त्र्यायुषं जमदग्नेः० ) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं, इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं, फिर ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ? उ०—ऐसा भ्रम

मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है। इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं। ( त्र्यायुषं ज० ) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की ( ३०० ) तीनसौ वर्ष तक उमर बनी रहे, ( यद्देवेषु० ) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है ( तन्नो अस्तु० ) वैसी ही हम लोगों की भी हो, तथा ( त्र्यायुषं जमदग्नेः० ) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् ( ४०० ) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं।

## भाष्यम्

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते। किंच भोः। ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेप्यस्ति। स बृ॒ह॒तीं दिश॒मनु॒व्य॑चलत्। तमि॑तिहा॒सश्च॑ पु॒रा॒णं च॒ गाथा॑श्च नाराशं॒सीश्चा॑नु॒व्य॑चलन्। इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै स॒पु॒रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नाराशं॒सीनां॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १॥ अथर्व० कां० १५। प्रपा० ३०। अनु० १। मं० ४॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते ?। मैवं वाचि। एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न

श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । स देव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ ॥ आत्मा वा इदमेक-मेवाग्रआसीन्नान्यत् किंचनमिषत् ॥ इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ । खं० १ ॥ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥ श० कां० ११ । अ० १ ॥ इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्य-प्रकाशकाः । तद्यथा । इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै तदाह । यदाहेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह । सविताव देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो, यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्यास्काचार्याः । नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो[1], नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणि,र्नरैः प्रशस्यो भवति ॥ नि० अ० ८ । खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ता-द्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या, नातोऽन्या इति । किंच तेषु तेषु वचने-ष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ।

## भाषार्थ

और इस हेतु से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं । प्र०—जहां २ ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में ( यद्ब्रा-ह्मण० ) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास, पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इति-

१ काथक्य इति निरुक्ते ।

हास, पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ? उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इन का ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। जो ब्राह्मण ग्रन्थों में ( देवासुराः संयत्ता आसन् ) अर्थात् देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है। ( सदेव सो० ) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। ( इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्टयै० ) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उनका नाम कल्प है। इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं। ( ब्राह्मणानीतिहासान्० ) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

## भाष्यम्

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये। वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६० ॥ अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्। प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः। अयमभिप्रायः। ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते। सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा०। त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवचनानीति, तत्र। सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा०। यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा

वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणव्याख्यानामिति शेषः । सू० स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६३ ॥ अस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, संप्रत्ययार्थं, स्तूयमानं श्रद्धीतेति प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात्प्रवर्त्तते । सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो, य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेतज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं पतनवामह इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ।

## भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है । जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं । उन में से एक विधिवाक्य है । जैसे ( देवदत्तो ग्रामं गच्छेत्सुखार्थम् ) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय । इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है ( अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः ) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे । दूसरा अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है । एक स्तुति, अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो । दूसरी निन्दा, अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उन को कोई न करे । तीसरा ( परकृतिः ), जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इस से उस को दण्ड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई । चौथा ( पुराकल्प ), अर्थात् जो

बात पहिले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था। इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

## भाष्यम्

सू०-विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ५ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० ६४ ॥ अस्योप० वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः। सू० न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ ६ ॥ अ० २ । आ० २ । सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम्। अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

## भाषार्थ

इस का तीसरा भाग अनुवाद है। अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है। एक शब्द का और दूसरा अर्थ का। जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है। विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं। जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। विनाश रहित होने से यह हेतु है। आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं, जैसे, परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी। इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी वार उच्चारण और विचार हो इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि

इन में से इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं, और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुतसी लिखी हैं ।

## भाष्यम्

अन्यच्च। ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः । इषेत्वोर्जेत्वेति ॥ श० कां० १ । अ० ७ ॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ।

## भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती । इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं वे ही वेद हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं ।

## भाष्यम्

अन्यच्च महाभाष्येपि । केषां शब्दानाम् ? । लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि । शन्नो देवीरभिष्टये । इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते । कुतः । तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १ ॥ अ० २ । पा० ३ ॥ सू० ६० ॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ २ ॥ अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥३॥ अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५॥

इत्यष्टाध्याय्याः सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् (१) । तद्यथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मण इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रं राजन्यः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ समानार्थावेतौ वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च, ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ।

## भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं । जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं । किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं, क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है । इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती । और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो, और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु

जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं, इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं।

### भाष्यम्

किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति।

### भाषार्थ

प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं? उ०—ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं *।

इति वेदसंज्ञाविचारः

## अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?। अत्रोच्यते। सर्वाः सन्ति

* इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है।

मूलोद्देशतः। तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते। तमीशा॑नं॒ जग॑त॒स्तस्थुष॒स्पतिं॑ धियं जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम्। पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५ ॥ तद्विष्णो॑ः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑। दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ २ ॥ ऋ० अ० १। अ० २। व० ७। मं० ५ ॥ अनयोरर्थः। ( तमीशानम् ) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता ( जगतस्तस्थुषस्पतिं ) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी ( धियं जिन्वम् ) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता ( अवसे हूमहे वयम् ) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः ( पूषा ) पुष्टिकर्त्ता ( नः ) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति ( यथा वेदसामसद्वृधे ) हे परमेश्वर! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया ( रक्षिताऽसत् ) रक्षकोप्यस्तु। एवं ( पायुरदब्धः स्वस्तये ) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय ( अदब्धः ) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः।

## भाषार्थ

प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं?। उ०—सब हैं। क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं। उन में से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं। ( तमीशानं ) जो सब जगत् का बनाने वाला है, ( जगतस्तस्थुषस्पतिं ) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, ( धियं जिन्वम् ) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है, उस की ( अवसे हूमहे वयम् ) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, ( पूषा नः ) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है, ( यथा वेदसामसद्वृधे ) हे परमेश्वर! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही ( रक्षिता ) सब की रक्षा भी करें ( पायुरदब्धः स्वस्तये ) जैसे आप हमारे रक्षक हैं वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥ १ ॥

( तद्विष्णो० ) इस मंत्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ २ ॥

## भाष्यम्

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० ११ ॥ ( परीत्य भू० ) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य, सूर्य्यादीन् लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा, प्राप्य, विदित्वा च । ( उपस्थाय प्र० ) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमान् सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ।

## भाषार्थ

( परीत्य भू० ) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा ( परीत्य लोकान् ) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, ( परीत्य सर्वाः० ) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, ( ऋतस्या० ) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, ( प्रथमजां ) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके ( अभि० ) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

## भाष्यम्

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० ।

प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥ ( महद्यक्षं ) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं, यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, ( भुवनस्य ) सर्वसंसारस्य ( मध्ये ) परिपूर्णम्, ( तपसि क्रान्तं ) विज्ञाने वृद्धम्, ( सलिलस्य ) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं ( पृष्ठे ) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् ( तस्मिञ्छ्रय० ) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति । कस्य का इव ? ( वृक्षस्य स्कन्धः ) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वता लग्नाः शाखा इव ।

## भाषार्थ

( महद्यक्षं० ) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है, ( भुवनस्य म० ) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, ( तपसि क्रान्तं ) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है, ( सलिलस्य पृष्ठे ) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है उस का भी आधार और उस में व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, ( तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः ) जिस के आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, ( वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अङ्कुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ।

## भाष्यम्

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ ६ ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ८ ॥ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ ६ ॥ सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० १६ । १७ । १८ । २० । २१ ॥ ( न द्वितीय० ) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ६ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ८ ॥ यतो नव-

भिनकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरभा-
वस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषि-
ध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत्, स
एव पश्यति, नास्य कश्चिद्द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुम-
र्हति । येनेदं जगद्व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं
प्राप्तमस्ति । व्यापकाद्व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वं
सहते तस्मात्स एवैष सहोऽस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद्द्वितीय-
स्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात् । अतः सजातीयविजा-
तीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मा-
त् । एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण
वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा
धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ६ ॥ अस्मि-
न्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा
एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति ।
एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा
वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र
वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ।

## भाषार्थ

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा और न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ६ ॥ (न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, न कोई सातवां ईश्वर है ॥ ७ ॥ (नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा और न कोई दशमा ईश्वर है ॥ ८ ॥ (तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है, उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं । इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है । इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव

वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७ ८ और ९ (नव) अंक बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उन से एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है। अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रच के, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥ ९ ॥ ( सर्वे अस्मिन् ) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उस के सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं। इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहां २ वे मन्त्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

## अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २ ॥**

( संगच्छध्वं० ) ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत, अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत, येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत्, ( संवद० ) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक्सत्यादि युक्ता गुणाः सदा वर्धेरन्, ( सं वो मनांसि जानताम् ) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानता वो युष्माकं

मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्, युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चे-त्यत्र दृष्टान्त उच्यते ( देवा भागं यथा० ), यथा पूर्वे संजानाना, ये सम्य-ग्ज्ञानवन्तो देवा, विद्वांस, आप्ताः पक्षपातरहिता, ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मतास्ते, यथा भागं भजनीयं, सर्व-शक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं, मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो, यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

## भाषार्थ

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है । ( संग-च्छध्वं ) देखो परमेश्वर हम सभों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो । उससे विपरीत कभी मत चलो । किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो । जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो । ( संवदध्वं० ) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना, पढ़ाना, प्रश्न, उत्तर सहित संवाद करो । जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे । ( सं वो मनांसि जानताम् ) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो । जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे । जिस से तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं । ( देवा भागं य० ) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो । क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है । एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

स॒मा॒नो मन्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मनः॑ स॒ह चि॒त्तमे॑षाम् । स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भि म॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

( समानो मन्त्रः० ) हे मानवाः ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा ( समितिः समानी ) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, ऽर्थाद्या न्यायप्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्य्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याल्हादिता, परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्य्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति, ( समानं मनः० ) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान्प्रति संकल्पः, अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम्, ( सह ) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । ( एषां० ) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा ( अभिमन्त्रये वः ) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । ( समानेन वो० ) हविर्दानं ग्रहणं च,

तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

## भाषार्थ

( समानो मन्त्रः ) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो । उस में किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब २ तुम लोग मिल के विचार करो, तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के, जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो । जिस से सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय । ( समितिः समानी ) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिस से बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो । जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं । ( समानं मनः सह चित्तं ) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है । उस से सदा पुरुषार्थ करो । जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो । तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो । वह भी तुम्हारा एक सा हो । ( सह ) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें । ( एषां० ) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं । ( समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः ) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल

चलें। जिस से उन का सत्य धर्म बढ़ और असत्य का नाश हो। ( समानेन वो हविषा जुहोमि ) हे मनुष्य लोगो ! जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब २ धर्म से युक्त ही करो। उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि म सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिय कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

स॒मा॒नी व॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः। स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ४ ॥

### भाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः। हे मानवाः ! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति, ( समानी व० ) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु, यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम्, ( समाना हृदयानि वः ) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु, ( समानमस्तु वो मनः ) अत्र प्रमाणम्, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा कामः। तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यमधृतिः। सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ह्रीः। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः। असत्या-

चरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । ( यथा वः सुसहासति ) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः । नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् । किंतु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ।

## भाषार्थ

( समानी व आकूतिः ) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो । जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो । और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे ( समाना हृदयानि वः ) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें । ( समानमस्तु वो मनः ) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायँ । ( कामः ) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है । ( संकल्पः ) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं । ( विचिकित्सा ) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है । ( श्रद्धा ) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना । ( अश्रद्धा ) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये । ( धृतिः ) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का

नाम धृति है । ( अधृति ) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं । ( ह्रीः ) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं । ( धीः ) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं । ( भीः ) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है । इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो । ( यथा वः सुसहासति ) हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो । किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो । किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो । जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाᳬं सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १९ । मं० ७७ ॥**

## भाष्यम्

अस्यायम० ( दृष्ट्वा० ) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति । ( प्रजापतिः ) परमेश्वरः ( सत्यानृते ) धर्माधर्मौ ( रूपे ) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा ( व्याकरोत् ) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथमित्यत्राह ( अश्रद्धाम० ) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात् । अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते, सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात् । एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

## भाषार्थ

( दृष्ट्वा० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। ( प्रजापतिः ) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो ( सत्यानृते ) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण हैं, * ( व्याकरोत् ) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है। सो इस प्रकार से है कि ( अश्रद्धाम० ) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में ( अश्रद्धा ) अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही ( श्रद्धाꣳस० ) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो, और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

**दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६। मं० १८ ॥**

## भाष्यम्

( दृते दृꣳह० ) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्देनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्य्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा। हे दृते ! सर्वदुःखविनाशकेश्वर !

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है।

मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्, पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय, (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि, (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥५॥

## भाषार्थ

(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्रतं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्।
इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ६ ॥ यजु० अ० १। मं० ५ ॥

## भाष्यम्

( अग्ने व्र० ) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति । नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं, तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः । हे अग्ने व्रतपते ! सत्यपते ( व्रतं ) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति । अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति । ( तच्छकेयम् ) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, ( तन्मे राध्यताम् ) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद्व्रतमित्यत्राह ? ( इदमहमनृतात्सत्यमुपै० ) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः । जीवे तत्सिद्धि कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रचितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

## भाषार्थ

( अग्ने व्र० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता । हे सत्यपते परमेश्वर ! ( व्रतं० ) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं । इस से मैं उस सत्यव्रत का

आचरण किया चाहता हूं। ( तच्छकेयं ) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं। ( तन्मे राध्यतां ) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो। सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। ( इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ) सो यह व्रत है कि जिस को मैं निश्चय से चाहता हूं। उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं। परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज़ को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं। इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥ ६॥

**व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम्। दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते॥ ७॥ यजु० अ० १९। मं० ३०॥**

( व्रतेन दी० ) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम्। नासत्ये चेति। यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति। तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति। ( दीक्षयाप्नोति द० ) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति। तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति। ( दक्षिणा श्र० ) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्का-

राढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । ( श्रद्धया० ) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

## भाषार्थ

( व्रतेन दी० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है । उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये । असत्य में कभी नहीं । ( व्रतेन० ) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है । ( दीक्षयाप्नोति० ) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । ( दक्षिणा श्र० ) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है । क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है । ( श्रद्धया० ) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं । इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥८॥

**श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्त ऋ॒ते श्रि॒ता ॥ ९ ॥ स॒त्येना॒वृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता॒ यश॑सा॒ परी॑वृता ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० १ । २ ॥**

## भाष्यम्

( श्रमेण तपसा० ) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि

प्रकाशयन्त इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानम् । तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः ( ब्रह्मणा ) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः, (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ९ ॥ ( सत्येनावृ० ) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । ( श्रिया प्रावृ० ) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । ( यशसा० ) उत्कृष्टगुणग्रहणं, सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

## भाषार्थ

( श्रमेण तपसा० ) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को ( श्रमेण० ) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये । क्योंकि ईश्वर ने ( श्रम० ) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है । इस कारण से ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें । ( ऋतेश्रिता ) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्य विद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ९ ॥ ( सत्येनावृता ) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों । ( श्रिया प्रावृता ) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उस को चारों ओर पहिन के शोभित हो । ( यशसा परी० ) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

**स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च**

वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३ । ७ ॥

भाष्यम्

( स्वधया परि० ) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः, ( श्रद्धया प० ) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तया सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु, ( दीक्षया गुप्ताः ) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः, ( यज्ञे प्रतिष्ठिताः ) ( यज्ञो वै विष्णुः ) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु, ( लोको निधनम् ) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । ( ओजश्च ) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, ( तेजश्च ) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दीनता, सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या, ( सहश्च ) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्, ( बलं च ) ब्रह्मचर्य्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति, ( वाक् च ) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति, ( इन्द्रियं च ) मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि, ( श्रीश्च ) सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति, ( धर्मश्च ) अयमेव वेदोक्तो, न्याय्यः, पक्षपातरहितः, सत्याचरणयुक्तः, सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

( स्वधया परिहिता ) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही

पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों। ( श्रद्धया पर्य्यूढा ) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। ( दीक्षया गुप्ता ) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो। ( यज्ञे प्रतिष्ठिता ) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। ( लोको नि० ) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो। किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ ( ओजश्च ) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, ( तेजश्च ) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, ( सहश्च ) सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, ( बलं च ) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, ( वाक् च ) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, ( इन्द्रियं च ) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, ( श्रीश्च ) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, ( धर्मश्च ) जो वेदोक्त, न्याय से युक्त हो के, पक्षपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं, उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, कि जो ( संगच्छध्वं० ) इस मन्त्र से लेके ( यतोभ्युदय० ) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥ १३ ॥ आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ॥ १४ ॥ पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च॑ स॒त्यं च॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । खं० २ । मं० ८ । ६ । १० ॥

## भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोस्ति । ( ब्रह्म च ) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, ( क्षत्रं च ) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्यधैर्य्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, ( राष्ट्रं च ) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, ( विशश्च ) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्धयर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, ( त्विषिश्च ) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, ( यशश्च ) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया, ( वर्चश्च ) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, ( द्रविणं च ) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धि,र्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १३ ॥ ( आयुश्च ) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, ( रूपं च ) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, ( नाम च ) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, ( कीर्त्तिश्च ) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, ( प्राणश्चापानश्च ) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनी-

यम्, ( चक्षुश्च श्रोत्रं च ) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥ १४ ॥ ( पयश्च रसश्च ) पयोजलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, ( अन्नं चान्नाद्यं च ) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, ( ऋतं च सत्यं च ) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च । ( इष्टं च पूर्त्तं च ) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्य्येति, ( प्रजा च पशवश्च ) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

## भाषार्थ

( ब्रह्म च ) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें । ( क्षत्रं च ) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना । ( राष्ट्रञ्च ) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये । ( विशश्च ) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उन की अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिस से धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो । ( त्विषिश्च ) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये । ( यशश्च ) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है । ( वर्चश्च ) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में

पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। ( द्रविणं च ) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ ( आयुश्च ) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। ( रूपं च ) अत्यन्त विषयसेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। ( नाम च ) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। ( कीर्तिश्च ) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े। ( प्राणश्चापानश्च ) जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ। ( चक्षुश्च श्रोत्रं च ) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ ( पयश्च रसश्च ) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर, ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो। ( अन्नं चान्नाद्यं च ) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। ( ऋतं च सत्यं च ) ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये। ( इष्टं च पूर्त्तं च ) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम

कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ अवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥ १५ ॥

## भाष्यम्

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्। ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वा०। तपश्च स्वा०। दमश्च स्वा०। शमश्च स्वा०। अग्नयश्च स्वा०। अग्निहोत्रं च स्वा०। अतिथयश्च स्वा०। मानुषं च स्वा०। प्रजा च स्वा०। प्रजनश्च स्वा०। प्रजातिश्च स्वा०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्र०। कुशलान्न प्र०। भूत्यै न प्र०। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र०। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र०। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥२॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता * अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु

* बङ्गीयैशियाटिक सोसाइटी मुद्रित तैत्तिरीये "आयुक्ताः" इति पाठः ॥

वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

( एतेषामभि० ) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । ( ऋतं च० ) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, ( सत्यं च० ) सत्यस्याचरणं च, ( तपश्च० ) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्म्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, ( दमश्च० ) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या, ( शमश्च० ) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति, ( अग्नयश्च० ) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, ( अग्निहोत्रं च० ) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम्, ( अतिथय० ) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम्, ( मानुषं च० ) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, ( प्रजा च० ) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या, ( प्रजनश्च० ) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, ( प्रजातिश्च० ) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्, ( सत्यमिति० ) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति, ( तप इति० ) ऋतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्य्यस्य मतमस्ति, परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति । ( वेदमनुच्या० ) आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य ! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः, शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये, आचार्य्यसेवा, प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये, देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव कार्य्य,मेवं मातृपित्रा-

चार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्राः ! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि, यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य ! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां, योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां, विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत, इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।

## भावार्थ

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं । ( ऋतं च० ) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें, उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायं । ( सत्यं च० ) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो, उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो । ( तपश्च० ) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो । ( दमश्च० ) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ । ( शमश्च० ) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो । ( अग्नयश्च० ) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो । ( अग्निहोत्रं च० ) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र

से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अति-थयश्च० ) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। ( मानुषं च० ) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में ख़र्च करके, उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो। ( प्रजा च० ) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। ( प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं, उस में श्रेष्ठ भोजन और औषध सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा भी करो। ( प्रजातिश्च० ) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो। ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है, सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये। ( सत्यमिति० ) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। ( तप इति० ) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना, पढ़ाना है यही सब से उत्तम है॥ १॥ ( वेदमनू-च्या० ) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो, और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो, इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो, आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो, और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात्

उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥ ( देव पितृ० ) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्या-भाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अ-प्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस २ से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो।

## भाष्यम्

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ [ ऋतं ] यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं, यथार्थज्ञानं च, ( सत्यं० ) सत्यकथनं, सत्यमाचरणं च, ( श्रुतं० ) सर्वविद्याश्रवणं, श्रावणं च, ( शान्तं० ) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, ( दमस्त० ) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मा-

न्निवर्त्तनं च, ( शमस्त० ) मनसोपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, ( दानं त० ) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, ( यज्ञस्त० ) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति । अन्यच्च । ( भूर्भु० ) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति ।

## भाषार्थ

( ऋतं तपः० ) तप इस को कहते कि जो ( ऋत ) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, ( श्रुत ) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, ( शान्त ) अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो । तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं । ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है ।

## भाष्यम्

सत्यं परं पर꣡ सत्य꣡ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सता꣡ हि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते । तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं, तस्मात्तपसि० । दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे० । शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० । दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रश꣡सन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने० । धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे० । प्रजन इति भूया꣡स,स्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः, प्रजनने० । अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः । अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० । मानसमिति विद्वा꣡स,स्तस्माद्विद्वा꣡स एव मानसे रमन्ते । न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपा꣡सि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् । प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति । तस्मै प्रोवाच । सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं

प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आय,न्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः प० । दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमं प० । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोन्वविन्द,ञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं प० । दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं प० । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तर,मन्वाहार्य्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्य,माहवनीयः साम सुवर्गोलोको बृहत्, तस्मादग्नीन्प० । अग्निहोत्रꣳसायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टꣳ, सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ, सुवर्गस्य लोकस्य ज्योति,स्तस्मादग्निहोत्रं प० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं प० । मानसं वै प्राजापत्यं, पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२ । ६३ ॥ [अयमभि०]

(सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्य्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ।

## भाषार्थ

( सत्यं परं० ) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है, सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है। क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है, इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। ( दम इति० ) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। ( दानमिति० ) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये। (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं, जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये। ( प्रजन इति० ) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। ( अग्नय इत्याह० ) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। ( अग्निहोत्रं च० ) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। ( मानसमिति० ) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं। इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इस से मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति)

ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्य-विद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है। ( सत्येन वा० ) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। ( तपसा देवा० ) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। ( दमेन० ) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के, विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। ( शमेन० ) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इस से यह भी धर्म का लक्षण है। ( दानेन० ) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं, इस से दान भी धर्म का लक्षण है। ( धर्मोवि० ) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। ( प्रजननं० ) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है, इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो। ( अग्नयो वै० ) अर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं। इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। ( अग्निहोत्रं० ) प्रातःकाल में संध्या और वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से

छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। ( यज्ञ इति ) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं। इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। ( मानसं वै० ) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

## भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि। मुं० ३। खं० १। मं० ५। ६ ॥ अनयोरर्थः। (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ ( सत्यमेव० ) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति। नान्यथेति। अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति।

## भाषार्थ

( सत्येन लभ्यस्तपसा० ) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सब के आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥ (सत्यमेव जय० ) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है ॥ २ ॥

## भाष्यम्

अन्यच्च। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥१॥ पू० मी० अ० १। पा० १। सू० २ ॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥ वैशेषिके। अ० १। पा० १। सू० २ ॥ अनयोरर्थः ( चोदना० ) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणाऽस्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्म्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ ( यतोभ्यु० ) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति। इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति। एक एवायं सर्वेषां धर्मोस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोस्तीति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः

## भाषार्थ

( चोदना० ) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ ( यतोऽभ्यु० ) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः

---

## अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरो
यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभी-
रम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्र-
केतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास
॥ २ ॥ तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो
बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्

॥ ५ ॥ को अ॒द्धा वे॑द॒ क इ॒ह प्र वो॑च॒त्कुत॒ आजा॑ता कुत॑ इ॒यं वि- सृ॑ष्टिः । अ॒र्वाग्दे॒वा अ॒स्य वि॒सर्ज॑ने॒नाथा॒ को वे॑द॒ यत॑ आ॒बभूव॑ ॥ ६ ॥ इ॒यं विसृ॑ष्टि॒र्यत॑ आ॒बभूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न । यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑ ॥ ७ ॥ ऋ॰ अ॰ ८ । अ॰ ७ । व॰ १७ ।

## भाष्यम्

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च, विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति । ( नासदासी॰ ) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्,सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् । ( नो सदासीत्तदानीं॰ ) तस्मिन्काले सत्, प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत । ( नासीद्र॰ ) परमाणवोऽपि नासन् । ( नो व्योमापरो यत् ) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत्, किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत । ( किमावरीवः॰ ) यत्प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? । नेत्याह । किं, त्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात् । तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि । किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? । नेत्याह । अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि । ( इयं विसृष्टिः ) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स एव दध धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति । योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, ( परमे व्योमन् ) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे

व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति । ( सोध्यक्षः ) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोस्ति । ( अङ्गवेद ) हे अंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

## भाषार्थ

( नासदासीत् ) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी । उस समय ( असत् ) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था । ( नोसदासीत्तदानीं० ) उस काल में ( सत् ) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था । ( नासीद्रजः ) उस समय परमाणु भी नहीं थे । तथा ( नो व्यो० ) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । ( किमा० ) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता । जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है । इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥१॥ ( न मृत्यु० ) जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे । ( न मृत्यु० ) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे । ( इयं विसृष्टिः० ) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है । हे मित्र लोगो ! जो मनुष्य उस

परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥

### भाष्यम्

( हिरण्यगर्भः० ) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा ( दाधार ) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

### भाषार्थ

( हिरण्यगर्भः० ) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१। मं० १ ॥

### भाष्यम्

( सहस्रशीर्षा० ) अत्र मन्त्रे, पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च। अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि। पुरुषं पुरिशय

इत्याचक्षीरन् । नि० अ० १ । खं० १३ ॥ ( पुरि० ) पुरि संसारे, शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण* सर्वमित्यपि निगमो भवति । नि० अ० २ । खं० ३ ॥ ( पुरुषः० ) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति, ( पूरयतेर्वा ) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः, ( अन्तरिति० ) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति ( यस्मात्परं० ) । यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, ( नापरमस्ति ) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा, किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा, किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोऽस्ति । क इव ? ( वृक्ष इव ) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो, विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो, निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दाताऽसीत्यादि० । श० कां० ७ । अ० ५ ॥ ( सर्वं० ) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । ( सहस्रशी० ) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः । ( सहस्राक्षः स० ) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते, स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च । ( स भूमिꣳ सर्वतःस्पृत्वा ) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, ( भूमिमिति ) भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य

* पुरुषेणेति निरुक्ते ( श्रीवेङ्कटेश्वरयन्त्रालयप्रकाशिते ) पाठः ।

वर्त्तते, ( अत्य० ) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः । अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ।

## भाषार्थ

( सहस्रशी० ) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेषण हैं । पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है । इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना । सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है । सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उस को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं । क्योंकि वह अनन्त है । जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो । ( स भूमिँ सर्वतः स्पृत्वा ) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है । (अत्यतिष्ठद०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का, अवयववाची है । पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं । तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमां जीव और शरीर में जो हृदय देश है सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है । जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों ओर भी परिपूर्ण होरहा है, इससे वह पुरुष कहाता है । क्याकि जो उस दशाङ्गुल स्थान

का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनानेवाला है॥१॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

## भाष्यम्

( पुरुष एवे० ) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः ( यद्भूतं० ) यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं, चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोस्ति। तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्य्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

## भाषार्थ

( पुरुष एवे० ) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है। क्योंकि वह ( ईशान ) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर ( अन्न० ) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है। क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

## भाष्यम्

( एतावानस्य० ) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? । अत्र ब्रूते ( अतो ज्यायांश्च पूरुषः ) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह ( पादोऽस्य० ) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य ( विश्वा ) विश्वानि प्रकृत्यादिपथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । ( त्रिपादस्या० ) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदास्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमास्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोस्ति ॥ ३ ॥

## भाषार्थ

( एतावानस्य० ) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उस के महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा ? उ०—( अतो ज्यायांश्च पूरुषः ) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि ( पादोऽस्य विश्वाभूतानि ) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में वसता है । ( त्रिपादस्यामृतं दिवि ) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

## भाष्यम्

(त्रिपादू० ) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं ज-

गदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति। स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति। अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति। तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते, (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते। किञ्च तत्। (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं, तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद्द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥ ४ ॥

## भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है। (पादोस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है, एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है। क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इस का बनानेवाला, संसार में सर्वत्र

व्यापक होके, धारण करके, देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

**ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः । स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥**

## भाष्यम्

( ततो विराडजायत ) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः, सूर्य्यचन्द्रनेत्रो, वायुप्राणः, पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो,हि, सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन्, विराट्, अजायतोत्पन्नोस्ति। ( विराजो अधिपूरुषः ) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत् । ( स जातो अ० ) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति, परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति । ( पश्चाद्भूमिमथो पुरः ) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

## भाषार्थ

( ततो विराडजायत ) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है. जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को मूलप्रकृति कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है । वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान होरहा है । ( विराजो अधि० ) उस विराट के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के

अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, ( स जातो अत्यरिच्यत ) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। ( पश्चाद्भूमिमथो पुरः ) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

**तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒: सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम् । प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्याना॑र॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥ ६ ॥**

### भाष्यम्

( तस्माद्य० ) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः। तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम् ) पृषु सेचने धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत्। आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् *। आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। ( पशूंस्तांश्चक्रे० ) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे, चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

### भाषार्थ

( तस्माद्यज्ञात्स० ) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही ( संभृतं पृषदाज्यम् ) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है। इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे

* पृषदिति क्वचिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति।

की उपासना न करें। ( पशूंस्तांश्चक्रे० ) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्म-देहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

**तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥**

### भाष्यम्

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

### भाषार्थ

( तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः ) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है ॥ ७ ॥

**तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥**

### भाष्यम्

( तस्मादश्वा० ) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोयमारम्भः, ( ये केचोभयादतः ) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त । ( गावो ह ज० ) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि । ( तस्माज्जाता अजा० ) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

### भाषार्थ

( तस्मादश्वा अजायन्त ) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। ( ये केचोभयादतः ) जिनके मुख

में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं। वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। ( गावो ह ज० ) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। ( तस्माज्जाता अ० ) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः। तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ ९ ॥

## भाष्यम्

( तं यज्ञं ब० ) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं, बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, ( तेन देवा० ) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

## भाषार्थ

( तं यज्ञं बर्हि० ) जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है। ( तेन देवा अयजन्त सा० ) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से ( देवाः ) जो विद्वान्, ( साध्याः ) जो ज्ञानी लोग, ( ऋषयश्च ये ) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं, क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्। मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्
किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

## भाष्यम्

( यत्पुरुषं व्य० ) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः ( व्यकल्पयन् ) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । ( व्यदधुः ) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । ( मुखं कि० ) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? ( किं बाहू ) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? ( किमूरू ) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? ( पादा उच्येते ) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते ? । अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

## भाषार्थ

( यत्पुरुषं० ) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है । ( कतिधा व्य० ) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है । अनेक कल्पनाओं से जिस का कथन करते हैं । ( मुखं किमस्यासीत् ) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? । ( किं बाहू ) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है । ( किमूरू ) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ? । ( पादा उच्येते ) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? । इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद्बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः । ऊ॒रू तद॑स्य॒
यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याᳬ शू॒द्रो अ॑जायत ॥ ११ ॥

## भाष्यम्

( ब्राह्मणोऽस्य० ) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः,

सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । ( बाहू राजन्यः कृतः ) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो* भवति । ( ऊरू तदस्य० ) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् । ( पद्भ्यांशूद्रो० ) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जड़बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

## भाषार्थ

( ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । ( बाहू राजन्यः कृतः ) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है । ( ऊरू तदस्य० ) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है । ( पद्भ्यांशूद्रो० ) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

**चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥**

## भाष्यम्

( चन्द्रमा मनसो० ) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोस्ति ।

* आसीदुत्पन्नो भवतीत्यस्य स्थाने "आसीदास्ते" इति हस्तलिखितभूमिकायां पाठः ।

( श्रोत्राद्वा० ) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति, प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

## भाषार्थ

( चन्द्रमा० ) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। ( श्रोत्राद्वा० ) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है। तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत । प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥

## भाष्यम्

( नाभ्या० ) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् ( द्यौः ) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । ( पद्भ्यां भूमिः ) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च । ( दिशः श्रो० ) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति । ( तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन् ) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

## भाषार्थ

( नाभ्या आसीदन्त० ) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत

किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है । तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है । (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है । (तथा लोकां२।। अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में वसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

## भाष्यम्

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते, (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

## भाषार्थ

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होवे हैं उन को भी ईश्वर ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं । (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है । श्रावण और भाद्रपद

वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु । मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है । यह इस यज्ञ में आहुति है । सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

**स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः । दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥**

### भाष्यम्

( सप्तास्या० ) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः । सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः । ( त्रिः सप्त सामिधः कृताः ) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति । प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य सामिधः कारणानि विज्ञेयानि । एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । ( देवा य० ) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः ( अबध्नन् ) ध्यानेन बध्नन्ति, तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

### भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची है । जो गोल चीज़ के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण

होता है उस को परिधि कहते हैं । सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये । एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं । ( त्रिः सप्त समिधः ) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है । जिस में से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है । दूसरा श्रोत्र । तीसरी त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं । बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श । चौदहमा रूप । पन्द्रहमा रस । सोलहमा गन्ध । सत्रहमी पृथिवी । अठारहमा जल । उन्नीसमा अग्नि । बीसमा वायु । इक्कीसमा आकाश । ये इक्कीस समिधा कहाती हैं । ( देवा य० ) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं । उस को छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥**

## भाष्यम्

( यज्ञेन यज्ञम० ) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन, तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यक्ष्यन्ति च । तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति । ( ते ह ना० ) त ईश्वरोपासका, हेति, प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं, मोक्षं च, महि-

मानः पूज्याः सन्तः, सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत् ? ( यत्र पूर्वे साध्याः० ) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति । न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त ॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, "अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्ते"ति च ब्राह्मणम् । 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।' ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० अ० १२ । खं० ४१ ॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति । तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति ॥ १६ ॥

## भाषार्थ

( यज्ञेन यज्ञम० ) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं । इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें । ( ते ह नाकं० ) जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं । ( यत्र पूर्वे सा० ) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं । क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते । इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उन को अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अ॒द्भ्यः संभृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

## भाष्यम्

( अद्भ्यः संभृतः० ) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित, आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा । तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति । ( आजानमग्रे ) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय । धर्मयुक्तेनैव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

## भाषार्थ

( अद्भ्यः संभृतः० ) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है । इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उस का नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था । ( तस्य० ) जब २

ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है। ( तन्मर्त्यस्य देवत्व० ) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥**

## भाष्यम्

( वेदाहमेतं पु० ) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते ? तदुत्तरमाह। यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, वृद्धतममादित्यवर्णं, स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः। ( तमेव विदित्वा० ) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति। नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति ? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

## भाषार्थ

( वेदाहमेतं ) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं । जो सब से बड़ा, सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं । उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि ( तमेव विदित्वा० ) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म, मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है । अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उस से भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है । इस में यह प्रमाण है कि ( नान्यः पन्था० ) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है, क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥**

## भाष्यम्

( प्रजापति० ) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जड़स्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । ( तस्य योनिं० ) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः ( परिप० ) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते । ( तस्मिन्ह तस्थुर्भु० ) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे

लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थे । तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

### भाषार्थ

( प्रजापति० ) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है, ( तस्य योनिं० ) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । ( तस्मिन्ह त० ) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

**यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥**

### भाष्यम्

( यो देवेभ्य० ) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । ( पूर्वो यो देवेभ्यो जातो० ) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति । ( नमो रुचाय० ) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २० ॥

### भाषार्थ

( यो देवेभ्य० ) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित,

अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो, और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके, सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

## भाष्यम्

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपादिशन्तु च। (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

## भाषार्थ

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्वि-

नौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥२२॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे ते तव (पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर ! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय, तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्ध कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण, हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पशवः ॥ श० कां० १ । अ० ८ ॥ श्रीर्वै सोमः ॥ श० कां० ४ । अ० १ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० कां० १३ । अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो,* लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ । खं० १० ॥ अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

* अत्र "लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो" इत्यधिकः पाठो निरुक्ते ।

## भाषार्थ

( श्रीश्च ते ) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजली ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है। ( इष्णन् ) हे परमेश्वर ! आप की दया से ( अमुं ) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥२२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

**यत्पर॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्। किय॑ता स्क॒म्भः प्रवि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद्ब॑भूव ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । सू० ७ । मं० ८ ॥ दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये । उच्छि॒ष्टाज्ज॑ज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒ श्रि॒ताः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ४ । सू० ७ । मं० २७ ॥**

## भाष्यम्

( यत्परम० ) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च ( अवमं ) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, ( यच्च म० ) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत्, प्रजापतिरेव ( ससृजे वि० ) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, ( कियता० ) * एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः, कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे, ( यन्न० ) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ ( देवाः० ) देवा विद्वांसः, सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः, सूर्य्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वे उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये ( दिवि देवाः दिविश्रिताः ) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोकाः, ये च दिवि श्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

## भाषार्थ

( यत्परम० ) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है । उस ने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं

* एतस्मिन्नित्यारभ्य कियद्बभूवेतिपर्यन्तसन्दर्भस्थाने "सृष्ट्वा, त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद्बभूवेति" हस्तलिखित भूमिकायां पाठः ।

आता ॥ १ ॥ ( देवाः पितरो० ) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, ( ज्ञानिनः ) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, ( मनुष्याः ) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य्यादि लोक और ( अप्सरसः ) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । ( दिवि देवाः ) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और ( दिविश्रिताः ) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ।

इति सृष्टिविद्याविषयः

---

## अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६ ॥

### भाष्यम्

अस्याभि०—आयं गौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् । ( आयं गौः० ) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा ( स्वः ) सूर्य्यं पितरमग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितर,माकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितर,मपो

मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि । गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ * । तथाच, स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु † पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् । निरुक्ते, गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि ‡ । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता, दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ।

## भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ।

( आयं गौः० ) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी २ परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है, और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है, और सूर्य्य उस के पिता के समान है ।

* अ० १, खं० १ । † निघण्टु, अ० १, ख० ४ । ‡ ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमानुवाके ।

इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता, वायु और आकाश माता। तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उन के प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं। इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उस को देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

**या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥**

## भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति। विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम्। (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती। तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा,प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाणया हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

## भाषार्थ

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है।

* सुपांसुलुगिति सूत्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पदं जायते ॥

अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस २ मार्ग में सब लोक घूमते हैं। ( पयो दुहाना० ) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। ( सा प्रब्रुवाणा० ) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

**त्वं सो॑म पि॒तृभि॑: संवि॒दा॒नोऽनु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तन्थ। तस्मै॑ त इन्दो ह॒विषा॑ विधेम व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६। अ० ४। व० १३। मं० ३ ॥**

## भाष्यम्

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोस्ति। अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि। तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः सङ्क्षेपतः

## भाषार्थ

( त्वं सोम० ) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे। तथा ( द्यावापृथिवी ) यह बहुत

मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

## अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ३॥

### भाष्यम्

( यदा ते० ) अस्याभिप्रा०—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति। हे इन्द्रेश्वर! वा वायो! सूर्य्य! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां ( आदित् ) तदनन्तरं ( दिवेदिवे ) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो ( विश्वा ) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति। अतःकारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

### भाषार्थ

( यदा ते० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है। (यदा ते० ) हे इन्द्र परमेश्वर! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आप के ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान

से इधर उधर चलायमान नहीं होते । दूसरा अर्थ । इन्द्र जो वायु, सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं । उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

**यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ४ ॥**

## भाष्यम्

( यदा ते मारुती० ) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति । हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणानियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे । आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति । अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

## भाषार्थ

( यदा ते मारुती० ) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । हे परमेश्वर ! आप की जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है वह आप के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है । जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥ २ ॥

**यदा सूर्य्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ५ ॥**

## भाष्यम्

( यदा सूर्यं० ) अभि०–अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति । यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । ( आदित्ते ) तदनन्तरं ( विश्वा ) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि ( येमिरे ) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

## भाषार्थ

( यदा सूर्य्यं० ) अभि०–इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है । हे परमेश्वर ! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं । इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः । विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ४ । अ० ५ । व० १० । मं० ३ ॥

## भाष्यम्

( व्यस्तभ्नाद्रोदसी० ) अभि०–परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वाँल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति । हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोस्ति । अद्भुत

आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति । वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत् । विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति । कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् । अतः किमागतं ? वृष्ण्यं वीर्य्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति, सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

## भाषार्थ

( व्यस्तभ्नाद्रोदसी० ) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है । हे परमेश्वर ! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं । इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है । सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं । तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं । इस हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है । वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

**आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥**
**य० अ० ३३ । मं० ४३ ॥**

## भाष्यम्

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति । सविता परमात्मा

सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति । कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन ? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन । किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्चार्थात्सर्वांल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । लोका रजांस्युच्यन्ते ॥ निरु० अ० ४ । खं० १६ ॥ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा ॥ निरु० अ० ६ । खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य ॥ निरु० अ० १२ । खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

## भाषार्थ

( आकृष्णेन० ) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं । सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित ( रथेन ) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं । इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है । और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है । वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य-

लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में ( द्युभिरक्तुभिः ) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम रज है। और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं। इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः

## अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

*सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः*

**स॒त्येनोत्त॑भिता॒ भूमि॒: सूर्य्ये॒णोत्त॑भिता॒ द्यौः। ऋ॒तेना॑दि॒त्यास्ति॑ष्ठन्ति दि॒वि सोमो॒ अधि॑ श्रि॒तः ॥ १ ॥ सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिन॒: सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही। अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४। अनु० १। मं० १। २ ॥ कः स्वि॑देका॒की च॑रति॒ क उ॑ स्विज्जायते॒ पुन॑ः। किंस्वि॑द्धि॒मस्य॑ भेष॒जं किं वा॑ वप॑नं म॒हत् ॥ ३ ॥ सूर्य॑ एका॒की च॑रति च॒न्द्रमा॑ जायते॒ पुन॑ः। अ॒ग्निर्हि॒मस्य॑ भेष॒जं भूमि॑रा॒वप॑नं म॒हत् ॥ ४ ॥ य० अ० २३। मं० ९। १० ॥**

भाष्यम्

( सत्ये नो० ) एषामभि०—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति । इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । ( सूर्य्येण० ) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः । ( ऋतेन० ) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । ( दिवि सोमो अधिश्रितः ) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति, अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति । सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ ( सोमेनादित्या० ) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्त्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तो ( यावति ? )ऽन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावाच्च बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ ( कः स्वि० ) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ? । कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? । कः पुनः प्रकाशितो जायते ? । हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति ? प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । ( सूर्य्य एकाकी० ) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति, तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति । वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

## भाषार्थ

( सत्येनो० ) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं। एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं। अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत * अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। ( दिवि सोमो० ) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है। किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं॥ १॥ ( सोमेनादित्या० ) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है। जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उन को जमने से पुष्टि होती है। और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है॥ २॥ ( कः स्वि० ) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उन के बीच में से पहिला ( प्रश्न )

* तथा ऋत अर्थात् काल ने, मही ने, सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य और सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का धारण किया है। ( हस्तलिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऐसा पाठ है )

कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है ? ( दूसरा ) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? ( तीसरा ) शीत का औषध क्या है ? और ( चौथा ) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं ( सूर्य एकाकी० )। ( १ ) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है । तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है । ( २ ) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । ( ३ ) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीज़ों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है ( ४ ) । वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं । उन में से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है । वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आजावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

## अथ गणितविद्याविषयः

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविꣳशतिश्च म एकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च म एकत्रिꣳशच्च म एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳ-

शच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० २४ । २५ ॥

## भाष्यम्

अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति। ( एका० ) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति ( १ ) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः ( २ ) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका ( ३ ) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः ( ४ ) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् ( ६ ) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति । अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् । सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धाऽस्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि विधानमेका चेति । अ२—क३ इत्यादिसंकेतेनैतन्मंत्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० । प्र० १ । खं० १ मं० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्, एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोप्यत्रोच्यते ।

## भाषार्थ

( एका च मे० ) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उन में से प्रथम अङ्क जो

संख्या है ( १ ), सो दो वार गणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन को तीन ( ३ ) के साथ जोड़ने से ( ६ ), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच ( ५५ ), वैसे ही पांच २ छः २ ( ५५ ) ( ६६ ) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये। और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है। और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी ( एका च मे० ) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। जैसे ( $अं^{2}+कं^{2}$ ) ( $अं^{2}-कं^{3}$ ) ( $कं^{3}\div अं^{3}$ ) इत्यादि सङ्केत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है। और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ ( $अ^{2}ग्न^{3}$ आ० ) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयꣳसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥३॥ य० अ० २३। मं० ६२ ॥ कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३ ॥

## भाष्यम्

( इयं वेदिः ) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाश्यत इति । इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, सेनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । ( अयꣳ सो० ) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्तोस्ति । ( वृष्णो अश्व० ) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । ( रेतः ) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । ( ब्रह्मायं वा० ) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः ( परमं व्योम ) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ ( कासीत् प्रमा ) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः ? । एवम् ( प्रतिमा ) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते सा [illegible]सीत् ? । एवमेवास्य ( निदानम् ) कारणं किमस्ति ? । ( आज्यम् ) घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्, सर्वदुःखनिवारकमानन्दं स्निग्धं सारभूतं च ? । ( परिधिः क० ) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य [illegible]रणम् ( क आसीत् ) ? । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृ[illegible] यावती रेखा लभ्येत स परिधिरित्युच्यते । ( छन्दः० ) स्वच्छन्दं स्व[illegible]न्त्रं वस्तु ( किमासीत् ) ? । ( प्रउगं ) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं ( किमासीत् ) इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । ( यद्देवादे० ) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः ( अयजन्त ) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य ( प्रमा ) यथार्थतया ज्ञातास्ति ( प्रतिमा ) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः । अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

## भाषार्थ

( इयं वेदिः० ) अभिप्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है । क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है । जैसे तिकोन, चौकोन, सेनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था । क्योंकि ( परो अन्तः पृ० ) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं । इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ ( कासीत्प्र० ) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? ( प्रतिमा ) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज़ है ? ( निदानम् ) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज़ है ? ( आज्यं ) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? ( परिधिः० ) परिधि किसको कहते हैं ? ( छन्दः ) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? ( प्रउ० ) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्[illegible]ी है । वत् दिया जाता है । ( यद्देवा देव० ) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते [illegible]ो भी परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है । इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि [illegible] ) शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है । सो यह [illegible]यों प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यों [illegible] देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

---

## अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १६ । मं० ६ ॥ मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २ । मं० १० ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

### भाष्यम्

अभि०—तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् । ( तेजोसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्य्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । ( वीर्य्यमसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं धारय । ( बलम० ) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमासि, मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय । ( ओजो० ) हे परमेश्वर ! त्वमोजोसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि । ( मन्युरसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि । ( सहोसि० ) सहनशीलेश्वर ! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ ( मयीदमिन्द्र० ) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्च पोषयतु । अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च । ( अस्मान् रायो० ) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा, भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । ( सचन्तां० ) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति ( अस्माकꣳस० ) तथा हे भगवन् !

त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु, मा काश्चिद-स्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥ ( याम्मेधां० ) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्ध्या सह ( मा ) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते । ( देव-गणाः ) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, ( तया० ) तया मेधया ( अद्य ) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । ( स्वाहा ) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतंह विर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्यायमर्थः । ( सु आहेति वा ) ( सु ) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वै-र्मनुष्यैः सदा वक्तव्यं, ( स्वावागाहेति वा ) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । ( स्वं प्राहेति वा ) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रति चेति । ( स्वाहुतं हवि-र्जुहोतीति वा ) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाश-ब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

## भाषार्थ

अब गणितविद्याविषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासनाविषय है । सो आगे लिखा जाता है परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो ( यो भूतं च० ) इत्यादि मन्त्रों मे कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं । ( तेजोऽसि० ) । अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये । ( वीर्य्यमसि० ) हे जगदी-श्वर ! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं, मुझ को भी पूर्ण पराक्रम दीजिये । ( बल-मसि० ) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये । ( ओजो० ) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान

मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोसि०) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये। यायुक्त सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ का अधि॰न्द्र० ) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! आप अपनी कृपा से श्रोत्र रक्षण उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये। ॥ ५ । हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। मन ॰स्मान् रा० ) हे परमधन वाले ईश्वर! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम दिव्यग॰ के लिये कीजिये। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा में ॰कि हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण कर॰ उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳस०) हे भगवन्! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन्! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उस से युक्त हम लोगों को कीजिये, कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं, कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त

हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। ( स्वाहुतं इ० ) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें। और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्म
कमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ स्वाहा )
१। अ० ३। व १८। मं० २॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व हेत्येतत्सु
पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्र्थः ।
सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं ध सर्वं
॥ ५ ॥ य० अ० ३८। मं० १४। यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं र्वत्तते
सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शि स्वं
संकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४। मं० १॥ वाज... मे प्रसवश्च वि-
मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०।

## भाष्यम्

( स्थिरा वः० ) अभि०–ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्। हे मनुष्याः! वो युष्माकं ( आयुधा ) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च, ( स्थिरा ) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु। ( पराणुदे ) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा ( वीळू ) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च। ( उत ) एवं शत्रुसेनाया अपि ( प्रतिष्कभे ) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा ( युष्माकमस्तु तविषी० ) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु, येन युष्माकं चक्रवर्त्तिराज्यं स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्, ( मा मर्त्यस्य मा० ) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि। किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमा-

शीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ ( इषे पिन्वस्व० ) हे भगवन् !
इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय, चास्मान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया
सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु, ( ऊर्जे० ) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रय-
त्नकारिणे ( ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्तानस्मान्
द्यायुक्त कीजिये । ( क्ष… य साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर[व]तः क्षत्रियस्वभाव-
का अधिकारी कीजिये हैतानस्मान् कुरु, ( द्यावापृ० ) एवं यथा द्यावापृथि-
रक्षण सदा कीजिये, …दिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः,
॥ ५ ॥ ( यज्जाग्रतो० …ालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनु…ोपकारं वयं कुर्मः,
मन दूर २ घूमने …वस्योत्तमप्रयत्नवतः कुरु । ( धर्मासि० ) हे सुधर्म परमे-
दिव्यगुण वाला … न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । ( अमे-
में भी शुद्ध सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्व…ुनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्व-
करने… निर्वैरान् कुरु । यथ… अस्मे ) अस्मदर्थं ( नृम्णानि ) कृपया सुराज्य-
सुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं ( ब्रह्म० ) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं
च धारय, ( क्षत्रं० ) रा…थं क्षत्रियवर्णं … ( विशम० ) वैश्यवर्णं
प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वो…त्तमान् गुणानस्मान्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते …
च भवान्, तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥ ( यज्जाग्र-
तो दू० ) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्त-
मानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, ( दैवम् ) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं, ( तदु० )
तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य ( तथैव ) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दि…
पदार्थद्रष्टृ ( एति ) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तं चैति …
( दूरंगमम् ) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, ( ज्योतिषां ज्योति० ) ज्यो…मा-
न्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं ( एकम् ) अ…थ-
न्मनोस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कृपया, ( तन्मे० ) तत्, मे मम, मनो …
सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव …
इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे …
तम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वरेणैव याचितव्य-
मिति सिद्धम् ।

## भाषार्थ

( स्थिरा वः० ) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे ( आयुधा ) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और ( शतघ्नी ) तोप, ( भुशुण्डी ) बन्दूक ... और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों । तथा ( पराणुदे ) ... अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के ... तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें ... अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना ... प्रबल हों । तथा ( युष्माकमस्तु त० ) हे मनुष्यो ! तुम्हारी ( ... ) सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित ... वर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । ( ... स्य० ) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा ... न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है । और जो ( ... ) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं ... नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों ... तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ ( इषे पिन्वस्व० ) हे भगवन् ! ( इषे ) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । ( ऊर्जे ) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये । ( ब्रह्मणे० ) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् ( ... ) लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम ( प्र... ) गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों । ( क्षत्राय० ) हे परमेश्वर ! ( ... ) अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये । ( द्यावापृ० ) जैसे पृथिवी, सूर्य, ... जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये, कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों ।

( स्वाहा )
स्वाहेत्येतस्तु
...तीति वा ।
...यमर्थः ।
...नं सर्वं
...ग्वर्त्तते
...) स्वं

( धर्मासि० ) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये । ( अमे० ) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिये । ( अस्मे० ) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये ( नृम्णानि ) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । ( ब्रह्म० ) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये । ( क्षत्रम्० ) हम को अत्यन्त चतुर, शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । ( विशम्० ) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभगुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ ( यज्जाग्रतो० ) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत् अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा ( दैवम्० ) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही ( तदुसु० ) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे । ( ज्योतिषां० ) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है ( तन्मे० ) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से ( शिवस० ) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्मकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से ( वाजश्च मे० ) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं । अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ।

**आयुर्यज्ञेन॑ कल्पतां प्राणो यज्ञेन॑ कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬं श्रोत्रं॑ यज्ञेन॑ कल्पतां वाग्यज्ञेन॑ कल्पतां मनो॑ यज्ञेन॑ कल्पतामात्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ज्योति॑र्यज्ञेन॑ कल्पताᳬं स्व॑र्यज्ञेन॑ कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन॑ कल्पतां यज्ञो यज्ञेन॑ कल्पताम् । स्तोम॑श्च यजु॑श्च ऋक् च साम॑ च बृहच्च॑ रथन्तरं॑ च॑ । स्व॑र्देवा अगन्मामृता॑ अभूम प्रजाप॑तेः प्रजा अ॑भूम वेट् स्वाहा॑ ॥ ७ ॥**

य० अ० १८ । मं० २९ ॥

## भाष्यम्

( आयुर्यज्ञेन० ) यज्ञो वै विष्णुः* । वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः, हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव ( प्राणः ), ( चक्षुः ), ( वाक् ) वाणी, ( मनः ) मननं ज्ञानं, ( आत्मा ) जीवः, ( ब्रह्मा ) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, ( ज्योतिः ) सूर्यादिप्रकाशः, [ ( धर्मः ) न्यायः ] ( स्वः ) सुखं, ( पृष्ठं ) भूम्याद्यधिकरणं, ( यज्ञो० ) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, ( स्तोमः ) स्तुतिसमूहः, ( यजुः ) यजुर्वेदाध्ययनम्, ( ऋक् ) ऋग्वेदाध्ययनम्, ( साम ) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, ( बृहच्च रथन्तरं च ) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्, येन वयं ( स्वर्देवा० ) सुखे प्रकाशिताः, ( अमृता ) परमानन्दम्मोक्षं ( अगन्म ) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा ( प्रजापते प्र० ) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा ( अभूम ) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते ( वेट् स्वाहा० ) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम, मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि ॥ ७ ॥

## भाषार्थ

( आयुर्यज्ञेन० ) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है । उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीजें समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें । ( प्राणो० ) अर्थात् अपना प्राण

* श० ब्रा० १ । २ । १३ ॥

भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। ( चक्षु० ) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, ( वाक्० ) वाणी, ( मनो० ) मन और विज्ञान, ( आत्मा० ) जीव, ( ब्रह्मा ) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, ( ज्योतिः० ) जो प्रकाश, ( स्वर्य० ) जो सब सुख, ( पृष्ठम्० ) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, ( यज्ञो० ) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। ( स्तोमश्च० ) जो स्तुति का समूह, ( यजुश्च० ) सब क्रियाओं की विद्या, ( ऋक् च० ) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, ( साम च० ) सब गान करने की विद्या, ( चकारात्० ) अथर्ववेद, ( बृहच्च० ) बड़े २ सब पदार्थ और ( रथन्तरं च० ) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो २ फल अपने आधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं। इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं। ( स्वर्देवा० ) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को ( अगन्म० ) सब दिन के लिये प्राप्त हों। ( प्रजापतेः० ) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं। ( वेट् स्वाहा ) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें ॥ ७ ॥

## अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ४ । अ० ४ । व० २४ । मं० १ ॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ २ ॥ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३॥ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥

### भाष्यम्

( युञ्जते० ) अस्यामि०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते । ( विप्राः ) ईश्वरोपासका मेधाविनः, ( होत्राः ) योगिनो मनुष्याः, ( विप्रस्य० ) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये ( मनः ) ( युञ्जते ) युक्तं कुर्वन्ति, ( उत ) अपि धियो बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः ( विदधे ) विदधे, तथा ( वयुनावि० ) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित्, ( एकः ) स एकोऽद्वितीयोस्ति, ( इत् ) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति । तस्य ( देवस्य ) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, ( सवितुः ) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः ( परिष्टुतिः ) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या, कथंभूता स्तुतिः ? ( मही ) महतीत्यर्थः, एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥ १ ॥ ( युञ्जानो ) योगं कुर्वाणः सन् ( तत्त्वाय ) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं ( सविता ) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते, ( अग्नेर्ज्योतिः ) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ( ज्योतिः ) प्रकाशस्वरूपं ( निचाय्य ) यथावत्

निश्चित्य ( पिता याभरत् ) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्, इदमेव ... मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ ... एवमिच्छेयुः ( स्वर्ग्याय० ) मोक्षसुखाय, ( शक्त्या ) योगब- ...त्या, ( देवस्य ) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य ( सवितुः ) सर्वान्तर्यामिनः ... ) अनन्तैश्वर्य्ये ( युक्तेन मनसा० ) योगयुक्तेन शुद्धान्तः- ...न वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन ( स्वर्यतः ) ...प्रेम्णा ( देवान् ) उपासकान् योगिनः ( सविता ) अन्तर्यामी- ...कृपया ( युक्त्वाय० ) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा ( धिया ) ...धारवृत्त्या ( बृहज्ज्योतिः ) अनन्तप्रकाशं ( दिवं ) दिव्यं स्वस्वरूपम् ...भाति ) प्रकाशयति, तथा ( करिष्यतः ) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपा- ...योगिनः ( सविता ) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदा- ...मीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजा- ... ( ब्रह्म पूर्व्यम् ) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म ( नमोभिः ) स्थिरे- ...सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति, ... ) सत्यकीर्त्तिः ( वां ) ( वि ) ( एतु ) व्येतु व्याप्नोतु, कस्य ... सूरेः ) परमविदुषः ( पथ्येव ) धर्ममार्ग इव, ( ये ) एवं य उपा- ... ( अमृतस्य ) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य ( पुत्राः ) तदाज्ञा- ...ष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव ( दिव्यानि ) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपा- ...नायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि ( धामानि ) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा ( आतस्थुः ) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति, ते ( विश्वे० ) सर्वे ( वां ) उपासनोपदेष्टुपदेश्यौ द्वौ ( शृण्वन्तु ) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे, ...कृपया समवतो भवामीति ॥ ५ ॥

## भाषार्थ

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है । ( युञ्जते मन० ) इस का अभिप्राय यह

है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अ... ...सना
मय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। और जो (परिचित
उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् (होत्राः) उपासनायोग ...तिः
करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला, (बृहतः) सब से ...
(विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उस के ... अ-
(मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं, तथा ( ...व-
(धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा ...म्।
ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) ...वां
और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा ...
का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे ...
उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश
(सवितुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम ...
प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से ...कर्त-
जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥ (युञ्जा...योगिनो
को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, ( ...जते)
(मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब ( ...तः
परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर ...
है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्)
यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यह
प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्)
हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल
से, (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को
शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रका-
श प आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्)
उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता)
उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय)
वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में

( बृहज्ज्योतिः ) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है । और ( सविता ) जो सब
...त् का पिता है वही ( प्रसुवा० ) उन उपासकों का ज्ञान और आनन्दादि से
...कर देता है । परन्तु ( करिष्यतः ) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से
...रमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर
...सुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश
...वाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब
... पूर्व्यम् ) सनातन ब्रह्म की ( नमोभिः ) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा
...थर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद
... कि ( श्लोकः ) सत्यकीर्ति ( वां ) तुम दोनों को ( एतु ) प्राप्त हो ।
... समान ? ( पथ्येव सूरेः ) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त
...है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्त्ति प्राप्त हो । फिर भी मैं सब
...देश करता हूं कि ( अमृतस्य पुत्राः ) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले
...! ( शृण्वन्तु विश्वे ) तुम सब लोग सुनो कि ( आये धामानि० ) जो
... ( ब्रह्मों अर्थात् मोक्षसुखों को ( आतस्थुः ) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपा-
...ग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो । इसमें संदेह मत करो ।
...तये ( युजे ) मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६ ॥ युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ । मं० ६७ । ६८ ॥

## भाष्यम्

( कवयः ) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, ( धीराः ) ध्यानवन्तो योगिनः, ( पृथक् ) विभागेन ( सीराः ) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति, तथा ( युगा ) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि ( वितन्वते ) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति ते ( देवेषु )

विद्वत्सु योगिषु ( सुम्नया ) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो ! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेन ... नन्दं ( युनक्त ) तद्युक्ता भवत, एवं मोक्षसुखं सदा ( वितनुध्वं ) विस्त... तथा ( युगा० ) उपासनायुक्तानि कर्माणि ( सीराः ) प्राणादित्य... नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं ( कृते योनौ ) अन्तःक... शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि ( वपतेह बीजम् ) ... विधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत, तथा ( गिरा च ) वाण्या विद्यया ( युनक्त ) युङ्क्त, युक्ता भवत, किं च ( श्रुष्टिः ) क्षिप्रं योगफलं ( नो नेदीयः ) नोऽस्मान्नेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरा... ( असत् ) अस्तु, कथंभूतं फलं ? ( पक्वं ) शुद्धानन्दसिद्धं ( एयात् ) समन्तादियात् प्राप्नुयात्, ( इत्सृण्यः ) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे । पुनः कथंभूतास्ताः ? ( स... शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६ ... १२ । द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च । निरु० अ० १३ । खं० ...

## भाषार्थ

( कवयः ) जो विद्वान् योगी लोग और ( धीराः ) ध्यान करने वाले हैं वे ( सीरा युञ्जन्ति ) ( पृथक् ) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । ( युगा ) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, ( वितन्वते ) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं ( देवेषु सुम्नया ) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६॥ हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को ( वितनुध्वं० ) विस्तार करो । इस प्रकार करने से ( कृते योनौ ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप ( बीजं ) बीज को ( वपत )

ओ३म्

# अथ वल्लभादिमतस्थान्प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१—( प्र० ) कोऽयं वल्लभो नाम कश्चास्यार्थः ? ॥

२—( उ० ) वल्लभोऽस्मदाचार्यः प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ॥

३—( प्र० ) किमाचार्यत्वं नाम भवन्तश्च के ? ॥

४—( उ० ) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ॥

५—( प्र० ) किं गुरुत्वमस्ति ? ॥

६—( उ० ) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ॥

७—( प्र० ) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रिय उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ? ॥

---

१-( प्र० ) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ? ।

२-( उ० ) वल्लभ हमारा आचार्य है इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है ।

३-( प्र० ) आचार्य्यपन क्या है और आप कौन हैं ? ।

४-( उ० ) गुरु को आचार्य्य कहते हैं और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं ।

५-( प्र० ) गुरुपन क्या वस्तु है ? ।

६-( उ० ) उपदेश करना इसको हम गुरुपन कहते हैं ।

७-( प्र० ) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ? ।

८—( उ० ) नाद्यः कुतो भवता सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात्। किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति । न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात् स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । अन्यच्च सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृताँश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम् । मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात् । "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठंगुरुं समुपगच्छेदिति" श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात् । "उपनीय तु यःशिष्यंवेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षत" इति मनुमतविरोधात् ॥ मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम् ॥ तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च ॥ तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टत्ववचनमप्यसंगतन्तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ॥

८—( उ० ) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं होसकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना संभव नहीं किन्तु कोई वैसा है । द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उस में मूर्खों की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने २ सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है । और भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है । वेद में लिखा है कि वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे । इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और जो "यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं" । इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है । मरने पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं हो सकते । क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत

९—( प्र० ) किङ्गुरुत्वं सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ? ॥

१०—( उ० ) नादिमः कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्तिचेन्न सङ्गच्छते विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात् ॥ "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वान्मरणसमयेपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन्पदार्थान् कश्चिद्गृह्णाति भवतां तेन तुल्यत्वाच्च ॥ नान्त्यः ॥ असत्योपदेशस्यानभिधानाद्द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च ॥ स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य

है । इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है ।

९–( प्र० ) गुरुपन क्या वस्तु है ? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है ? ।

१०–( उ० ) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता, क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं तो तुम्हारा कहना असंगत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है । धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है । इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है । स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डलादि के तुल्य मृतक के वस्त्र आभूषणादि पदार्थों को लेते हो इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए । और द्वितीय पक्ष असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरुशिष्य दुःखफलभागी होते हैं । अपने पुत्रों

विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ॥ "निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यत" इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति ॥ भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्त्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमंत्रोपदेशश्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ॥

११–( प्र० ) भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा ? ॥

१२–( उ० ) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान्वेदान्पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ? ॥ शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद्ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ॥

---

के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है । अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता । धर्मशास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहाता है" इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है । और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है । यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते ? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये ।

११–( प्र० ) आप लोग गुरु शिष्य वा मध्यस्थ हो ? ।

१२–( उ० ) यदि गुरु हो तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? । यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है यह निश्चय जानना चाहिये ।

१३–( प्र० ) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा ? ॥

१४–( उ० ) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते ? ॥ "नास्तिको वेदनिन्दकः" "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वय" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ॥ पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जड़मूर्त्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन्पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति ? ॥

१५–( प्र० ) भवन्तः स्वस्मिन्कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ? ॥

१६–( उ० ) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न

---

१३–( प्र० ) आप लोग वेदमतानुयायी हो वा वेदमत के विरोधी हो ? ।

१४–( उ० ) यदि वेदमतानुयायी हो तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य संप्रदाय को क्यों मानते हो ? । यदि वेदविरोधी हो तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि "वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है" और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो । फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्त्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ? ।

१५–( प्र० ) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं वा मनुष्यपन की ? ।

१६–( उ० ) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप

स्वीक्रियते ? तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ॥ मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ॥

१७-( प्र० ) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये ? वैष्णवाश्चेत्कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ? ॥

१८-( उ० ) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् ॥ यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथाविष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ॥

१९-( प्र० ) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ? ॥

---

लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? । श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त होगये आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७-( प्र० ) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ? ।

१८-( उ० ) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण के ( तस्येदम् ) इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्तिविशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया वैसे कोई विष्णु के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१९-( प्र० ) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ? ।

२०–( उ० ) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् ॥ चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत्सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् ॥ कुतः संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा । ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव । "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धमित्यादि" श्रुतिविरोधात् ।

२१–( प्र० ) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ? ।

२२–( उ० ) पुण्यं भवति न च पापमिति ब्रूमः । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च ॥ तत्र

---

२०–( उ० ) यदि गोलोक, वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति देहधारी कहते हो तो व्यापक होना छोड़ो यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते हो तो सावयव उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता और संयोग अनित्य है इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है अन्यथा नहीं और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है । वेद में कहा है कि ईश्वर शरीर छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित शुद्ध निष्पाप सर्वत्र व्यापक है इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है ।

२१–( प्र० ) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्त्ति के पूजने में पुण्य होता है वा अपुण्य ? ।

२२–( उ० ) पुण्य होता है पाप नहीं ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि यदि थोड़े कंठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है ऐसा मानो और

वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत इति जल्पामः ॥ वेदेषु तु खलु कण्ठी-तिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव ॥

२३-( प्र० ) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम ? ॥

२४-( उ० ) पाषाणादिमूर्त्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति नैवं शक्यं वक्तुम् ॥ कथं प्राणादीनान्तत्कर्मणान्तत्रादर्शनात् यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ? यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्ति-रस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवय-न्ति ? भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति ॥ किञ्च पाषा-णादिमूर्त्तिनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति न नाड्य-

---

करो । यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कंठी तिलकधारण और पाषाणमूर्ति-पूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है इसलिये आपका कथन व्यर्थ है ।

२३-( प्र० ) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ? ।

२४-( उ० ) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्तियों में वेदमंत्र द्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ? यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुम को बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी और

श्छिद्राणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ॥ यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः ॥ कुत ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम् ॥ तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्ययेतीश्वरनियमोस्ति ॥ एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम् ॥ ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ॥ ईश्वरः सर्वव्याप्योस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येप्यस्ति पुनस्तत्पूजने को दोषः खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ? ॥

---

यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ तब तो किसी का मरण ही न होवे ? इससे बड़ा पुण्य होगा इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये । हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा यह निश्चय जानना चाहिये । जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं यह ईश्वरकृत नियम है इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये । ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते यह निश्चय है । यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इससे पाषाणादि मूर्तियों में भी है तो पाषाणादि मूर्तियों के पूजने में क्या दोष है ? और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख

एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटनञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति । कुतः सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् ॥ नोचेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति ॥ तद्यथा चक्रवर्त्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद्ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे राजास्तीति तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम् ॥

२५—( प्र० ) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ? ॥

२६—( उ० ) नाद्यः कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्त्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम् ॥ अन्यच्च वेदानभिहितपाषाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वी-

---

पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चन्दन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो ? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी संभव है यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ? । जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटीसी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है । तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि आप दशहाथ भूमि के राजा हैं उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा यह जानना चाहिये ।

२५–( प्र० ) छोटी २ बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप ? ॥

२६–( उ० ) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं क्योंकि यदि छोटी २ पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है तो बड़ी २ पीतल आदि की घंटादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है ऐसा जानो और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता

क्रियतान्नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् ॥ न चरमः कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात् ॥ मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः ॥ तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्त्वाच्चेति ॥

२७–( प्र० ) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानङ्का वा युक्तिः ? ॥

२८–( उ० ) हरिपदाकृतित्वम् ॥ कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः ॥ हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? ॥ विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् ॥ अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादतएव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम् ॥ किञ्च तिलकत्वमिति ॥ त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः ॥ नैवं वक्तुमुचितम् ॥ तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलको वेत्यर्थस्य

---

है ऐसा मानो यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है तो ठीक नहीं क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मूर्त्ति दे सकेगी ।

२७–( प्र० ) ऐसे विशेष चिह्नयुक्त कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ? ।

२८–( उ० ) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । ( प्र० ) हरि शब्द से किस को लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं यह कहना ठीक नहीं क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है इसी से पापकारी है यह जानना चाहिये । तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और

जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ? ॥

२९-( प्र० ) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

३०-( उ० ) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति कुतः यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीत्यतः ॥

३१-( प्र० ) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ? ॥

३२-( उ० ) न प्रथमः कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या ॥ न द्वितीयः कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवती-

---

ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये यह सिद्ध है तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है यह निश्चय जानना चाहिये ।

२९—( प्र० ) मूर्त्तिपूजनादि में पाप होता है वा पुण्य ? ।

३०—( उ० ) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है ॥

३१—( प्र० ) भावना सत्य है वा मिथ्या ? ।

३२—( उ० ) पहिला पक्ष भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है इससे भावना सत्य नहीं। दूसरा पक्ष भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के विना

त्यतः ॥ भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा ॥ पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जड़भावनान्दरिद्रः स्वस्मिंश्चक्रवर्त्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् । तर्हि भावना का नाम । भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति भ्रमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति ॥ तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमो ह्यभावना चेति ॥

३३-( प्र० ) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते ॥

विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है । यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है उतने समय में उतनी दूर आप का शरीर हमको पहुंचा देवे तब तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या ? फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्त्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे, और वह वैसी ही ठीक २ सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये । तो फिर भावना किस का नाम है ? पत्थर में पत्थर रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है । अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है । रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान अन्य में अन्य बुद्धि भ्रमरूप अभावना कहाती है ।

३३-( प्र० ) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ? ।

३४–( उ० ) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः ॥

३५–( प्र० ) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ॥

३६–( उ० ) प्रतिर्मीयते यया सा प्रतिमा किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ॥ ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः ॥ किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलनङ्कृतङ्किमतोयमर्थः क्रियते ? ॥ "तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम् ॥ षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेदिति" मनुसाक्ष्यं बोध्यम् ॥ प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः ॥ "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यश" इति यजुस्संहिताया द्वात्रिंशेऽध्याये ॥ ईश्वरस्य प्रतिमा तोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात् ॥ अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम् ॥

३४–( उ० ) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्त्ति को लेते हैं।

३५–( प्र० ) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

३६–( उ० ) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्त्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि तराजू और प्रतीमान=बाट सब ठीक २ रखने चाहिये और छः २ महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़ घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है ॥ और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मंत्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये ।

३७-( प्र० ) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ॥

३८-( उ० ) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः । नैवं शक्यं पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थकत्वात् ॥ यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान्व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थाश्चेति ॥ तद्यथा केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटीचेत्यर्थान्नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति, "ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति" "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत" "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्य" इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानाद्य आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणमन्यस्येति साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति ॥ परन्तु मतमस्माकं

३७-( प्र० ) पुराण शब्द से क्या लेते हो ? ।

३८-( उ० ) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि पुराण शब्द विशेषण वाचक होने से व्यावर्त्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुरान प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी से कहा कि पुराना घृत पुराना गुड़ पुरानी साड़ी इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं, कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि ब्राह्मणग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं। अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने, पुराणविद्या वेद का व्याख्यान दशमे दिन सुनें अर्थात् नवदिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें । इस प्रकार पुराणशब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य

खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ॥

३९—( प्र० ) देवालयशब्देन भवद्भिः किङ्गृह्यते ? ॥

४०—( उ० ) मूर्त्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः ॥ नैवं शक्यं कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद्भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात् ॥ "अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ १ ॥ स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा" ॥ २ ॥ होमेनैव देवपूजनं

---

का नहीं ऐसी साक्षी है और वेद ही सब से पुराने हैं । परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं यही सिद्धान्त है । ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं । जैसे शिव आदि के नाम के छल से तंत्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो ।

३९–( प्र० ) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ? ।

४०–( उ० ) मूर्त्ति को स्थापन करने पूजने के स्थान जिनमें कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं उनको देवालय कहते हो तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रांतियुक्त होने से । इससे जिसमें होम किया जाता वही स्थान देवालय शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है । धर्मशास्त्र में लिखा है कि, पढ़ाना–ब्रह्मयज्ञ । तर्पण–पितृयज्ञ । होम-देवयज्ञ । वैश्वदेव–भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से

भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसङ्गत एवेति निश्चयः"।। अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ।।

४१—( प्र० ) देवशब्देन किङ्गृह्यते ? ।।

४२—( उ० ) ब्रह्मविष्णुमहादेवादीनत्रपूजनार्थांस्तन्मूर्त्तीश्चेति गृह्णीमः ।। नैवं योग्यम् ।। "यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र" इति निरुक्ते। "मन्त्रमयी देवतेति" पूर्वमीमांसायाम् ।। तथा "मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे ।। "आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" मनुस्मृतौ ।। "मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयोपनिषदि ।। इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डे मन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीका-

---

मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये । इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है यह मनु की साक्षी है इससे आपका किया अर्थ असंगत है यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेना चाहिये ।

४१–( प्र० ) देवशब्द से क्या लेवे हो ? ।

४२–( उ० ) पूजने के लिये ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उन की मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि वेद में जहां २ देवता कहा है वहां २ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मंत्र का ही नाम देवता है यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है । मनुस्मृति में आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है इसलिये आत्मा ही सब देवता है । तैत्तिरीय आरण्यक में माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है । इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का

राद्भवत्कृतोर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः ।। एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीः देवता-शब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योस्ति किन्तु पशुरेव च ।। योऽन्यां देवता-मुपास्ते स पशुरेव देवानाम् ।। "उत्तिष्ठत जाग्रत" "तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ।।

४३—( प्र० ) देवल-देवलक-शब्दाभ्यां किं गृह्यते ? ।।

४४—( उ० ) मूर्त्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः ।।

नैवमुचितं वक्तुम् ।। कथं, "यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः ।। अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षत" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ।। यज्ञशी-लानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्येत तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽय-न्देवलो निन्द्यः ।। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः ।। कुत्सितो देवलो

ही स्वीकार है इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है । जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है । और उपनिषद् में यही कहा है कि जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है वह देवताओं में पशु ही है इसलिये हे मनुष्यो ! उठो जागो उस आत्मा को जानो अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं यह निश्चय जानो ।

४३—( प्र० ) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ? ।

४४—( उ० ) यदि कहते हो कि मूर्त्तिपूजने और मूर्त्तिपूजा से जीविका करनेवाले देवल और देवलक कहाते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवल और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है, देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला देवल निन्दित कहाता है यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है । और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है वह देवलक अति-निन्दित कहाता है क्योंकि व्याकरण के ( कुत्सिते ) सूत्र से निन्दित अर्थ में क

देवलकः कुत्सित इति सूत्रेण क-प्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम् ॥

४५—( प्र० ) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ? ॥

४६—( उ० ) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो नान्यथेति स्वीक्रियते ॥ भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलनार्थञ्च ॥ नैवन्न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति । सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन । यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत् ॥ यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमध-

---

प्रत्यय होता है इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है यह जानना चाहिये ।

४५—( प्र० ) ईश्वर के जन्ममरण होवे हैं वा नहीं ? ।

४६—( उ० ) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्ममरण से विलक्षण दिव्य जन्ममरण होते हैं अन्यथा नहीं यह स्वीकार है, क्योंकि भक्तों के उद्धार दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल निष्कम्प है । जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है फिर जो शरीर धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न करसके तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों

र्मदुष्टविनाशश्च ॥ यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वाद-योपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः ॥ अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ॥ प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्या-ऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छंसान्तश्चास्ति । पुनस्तस्य का शरीरसामग्री ? यतो निवा-सार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद्बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः ॥ "सप-र्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्" ॥ "तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥ "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" ॥ "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" ॥ "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्ध-वच्च यत् । अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" "अ-णोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" ॥ "वेदाहमेत-

का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होजावे तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त अजन्मा और अविकारी है । प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है जिसमें वह समाय जावे उससे बड़ा कोई भी नहीं यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है । वेद और उपनिषदों के प्रमाणः—वह सब में व्याप्त प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अछेद्य, अभेद्य नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध निर्मल, निष्पाप है । वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है । वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित सब के बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है उसी को ठीक २ जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है । वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है । मनुष्य

म्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः ॥ ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ॥

४७—( प्र० ) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ? ॥

४८—( उ० ) निराकारश्चेति वदामः ॥ निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति ॥ मैवं वाच्यङ्कुतः ॥ सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति ॥ तद्यथा ॥ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषो-

को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सब से बड़ा पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला अन्धकार से परे है । क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं ह । इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये ।

४७—( प्र० ) ईश्वर साकार है वा निराकार ? ।

४८—( उ० ) यदि कहो निराकार है तो ठीक है और जो निराकार होने में तुम को शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है । जैसे प्रमाण—उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में

ऽन्नरसमयः" ॥ आत्माऽऽकाशौ निराकारौ तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते तथा च स्थूलमयस्कान्तपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितु द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः ॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" । "स वेत्ति विश्वन्न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यम्पुरुषम्पुराण"मित्यादिश्रुतिभ्यः ॥ हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात्साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादि वाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यत्र गन्तव्यम् ॥

४६-( प्र० ) ईश्वरो मायावी न वेति ? ॥ मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? ॥

५०-( उ० ) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते ॥ नैवं योग्यम्भवितुम् ॥ कथं

---

आत्मा और आकाश निराकार हैं । आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है । इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है । और विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता विना चक्षु के देखता विना कान के सुनता वह सब को जानता उसका जाननेवाला कोई नहीं उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है साकार से साकार की उत्पत्ति होती है हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है ।

४६—( प्र० ) ईश्वर मायावी है वा नहीं ? और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

५०—( उ० ) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक

छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात् ॥ कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किङ्गम्यतेऽयं छली कपटी चेति ॥ ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम् ॥ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥

५१–( प्र० ) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति निर्गुणो वा ? ॥

५२–( उ० ) उभयमिति प्रतिजानीमः । तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोऽपि स एव ॥ एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयैर्गुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाऽज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः । "एको देवस्सर्वभूतेषु

---

नहीं हो सकता क्योंकि छल कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है । कोई कहे कि यह मायावी है इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है । ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है इसी से निर्मल निरञ्जन नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है । ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है— अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है ।

५१—( प्र० ) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ? ।

५२—( उ० ) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है यह निश्चित है जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण और जन्ममरण जड़पन अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वह है । उपनिषद् में कहा है कि एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है सब का अन्तर्यामी सब का अध्यक्ष सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान सब का साक्षी चेतन केवल एक और निर्गुण है इस प्रमाण से

गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।। सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षीचेताः केवलो निर्गुणश्चेति" साक्ष्याद्ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः ।। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम् ।।

५३–( प्र० ) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ? ।।

५४–( उ० ) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः । चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ।। ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्याद्योर्था गृह्यन्ते ।। नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति ।। सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् ।। सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां

---

ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है । किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है ऐसा जानना चाहिये ।

५३—( प्र० ) आप लोग मुक्ति मानते हो वा नहीं ? ।

५४—( उ० ) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं । ( प्र० ) चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ? । ( उ० ) एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति इत्यादि अर्थ लेते हैं, यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है । और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान है इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है ।

स्वतस्सिद्धा ।। कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् । सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवान साधारणाऽस्ति ।। कुत ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्त्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति ।। सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम् ।। का तर्हि मुक्तिरिति वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते ।। मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति ।। वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति ।। तद्यथा यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः ।। सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमिति मनुसाक्ष्यात् ।।

और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है । क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं । और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है । क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्यव्यापकसम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है ।। इसलिये वह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है । जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता । वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है यह निश्चय जानो, क्योंकि परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है ।

५५-( प्र० ) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता आहोस्वित्तद्विरोधिनः ? ॥

५६-( उ० ) न पूर्वः ॥ चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्, वेदविरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम् ॥ "पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ॥ हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेदिति" मनूक्तत्वात् ॥ एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति । सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा इति विवेकः ॥ कदाचित्केनाचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः ॥

५७-( प्र० ) श्रीकृष्णः शरणं मम । अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति मिथ्या वेति ? ॥

५८-( उ० ) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति ॥ वेदोक्तगाय-

---

५५-( प्र० ) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं वा विरोधी ? ।

५६-( उ० ) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है । वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं यह जानना चाहिये धर्मशास्त्र में कहा है कि:—पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे विडाल के स्वभाव से युक्त शठ स्वार्थी बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे । ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये ।

५७-( प्र० ) ( श्रीकृष्णः शरणं मम ) यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ? ।

५८-( उ० ) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है ।

त्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ॥

५९-( प्र० ) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ? ॥

६०-( उ० ) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति ॥ नैवं शक्यं कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिंसत्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ एवमेव 'नमो नारायणाय' 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्थोपदेशोयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद्भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरस-

वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़ कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी ।

५९-( प्र० ) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ? ।

६०-( उ० ) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों वा मेरे शरण को नष्ट करें इत्यादि अर्थ भी सम्भव है अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो वैसे कोई "हिंसतु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक अशुद्ध है । इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये । इसी प्रकार "नमो नारायणाय । नमः शिवाय । नमो भगवते वासुदेवाय । ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" इत्यादि अक्षरसमुदाय रूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसंप्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्ट-

मुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः ॥ श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकाल-जातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥ सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् ॥ कुतः वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात्प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोग परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ॥

६१–( प्र० ) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ? ॥

६२–( उ० ) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् ॥ गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना

---

सम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं०" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग उससे हुआ जो दुःख और क्लेश उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूं और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकिं तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ ऐसा निश्चय कर सको और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—( प्र० ) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ? ।

६२—( उ० ) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं तो यह ठीक सत्य नहीं क्योंकि जन्ममरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा उसमें जो वसते हैं वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जा-

आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः ॥ किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथ-क्कश्चिद्गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् ॥ तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहमित्यादि ॥ इदमशुद्धम् ॥ कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च ॥ पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः ॥ कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः ॥ तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ॥ समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पा-

नने चाहियें और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे ही होते हैं यह जानना चाहिये । और जो कहा था कि अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूं इत्यादि यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने २ साथ स्वाभाविक स्थित है अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटा कर दूसरे को नहीं दिये जा सकते । यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है तो मल मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे यही प्रकट न्याय है । और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही है क्योंकि परस्त्री का

पफलकमेव कुतः परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् ॥ तद्धर्मांश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहापराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यानिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ॥ आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मीत्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः ॥ एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव दासोर्थाच्छूद्र एवेति ॥ शूद्रस्य तु जुगुप्सितमिति मनुसाक्ष्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रंथेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः ॥ तद्यथा ॥ "श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि । साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥ ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषान्देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥ सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः । संयोगजाः

परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा ( तद्धर्मान् ) इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और ( वित्तेहापराणि ) इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध ही है। क्योंकि परशब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है। हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूं यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है जब जीवात्मा एक ही वस्तु है दो नहीं हैं तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूं यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है। और दास अर्थात् शूद्र हूं शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये यह मनुस्मृति की साक्षी है सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त ब्रह्मसम्बन्ध नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है ( श्रावणस्या० ) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है उसको ज्यों का त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मंत्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है और दोष पांच प्रकार के हैं ॥ एक सहज स्वाभाविक, २–देश से हुए, ३–कालभेद से हुए, ४–लोक वा धर्मशास्त्र में कहे,

स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन । असमर्पितवस्तूनान्तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥ निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः । न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥५॥ तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् । दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥ न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् । सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥ तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । "गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥ गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि" ॥ प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि स इदानीं

और ५—वेद में कहे, ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मंत्र से होसकती है । परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये । इससे गुसाइयों के चेले निवेदन करने की वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें यही नियम है । देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसाईं के चेले किसी वस्तु को भोगें और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईंजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें ॥ इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ॥ गुसाईंजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईंजी के चेला चेली कभी न सुनें । जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है वैसा होना चाहिये । वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे । वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करें ॥ जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें ॥ हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते । जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांचहजार वर्ष व्यतीत हुए सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा ?

वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान् किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति ॥ किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः ॥ साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च न सर्वदोषनिवृत्तिरिति ॥ दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ॥ नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते नान्यः कश्चिदिति ॥ हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः ॥ कुतः स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः ॥ सहजा इत्यादि ॥ सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत कुतस्तेषां सहजत्वादाग्निदाहवत् ॥ सर्व-

---

किन्तु कदापि नहीं कहा केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। साक्षात् भगवान् ने कहा यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस ब्रह्मसम्बन्ध नामक अक्षरसमुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है। और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे। यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों तो उस के दुःखरूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होवें यह निश्चय है क्योंकि स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये। सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति होजावे क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा सब के समर्पण करने में भी आप तथा आप-

समर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् ॥ तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ? ॥ लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसंप्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ? ॥ इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते ॥ "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः"

---

के शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं और ब्रह्मसम्बन्ध से देश काल के परिवर्त्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता कन्या बहिन पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहियें ? इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं ॥ नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत

॥ १ ॥ इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथश्चनेत्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् ॥ कुत ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ अधर्मोपदेशोयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगिवस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ॥ १ ॥ अथाऽस्य खण्डनम् । विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकर-

---

होती है ॥ और जो यह कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती यह रचना भांग पकिर के ही की है यह जानना चाहिये, क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है । इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये यह निश्चय है ॥ और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये गुसाईजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहिले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री पुत्र आदि का भी समर्पण करें । विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये, समर्पण कर के उन २ वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें ॥ इस का खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण कर के ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री कन्या भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के

णार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति तत्पुण्यात्मकश्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् ॥ तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ॥

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोपि तादृश एव मिथ्या ॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था उताऽधर्माचरणार्थाः ? ॥ नाद्यः कुतो वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानाम्परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् ॥ अश्ववृष-

अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं इससे नहीं करते तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ? यदि कहो कि उन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ? सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिस का जिस के साथ विवाह हुआ उन का परस्पर समपर्ण हो ही गया अन्यथा नहीं हो सकता यह जानो । इससे व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते हैं वा करेंगे उन को नरक प्राप्ति ही फल होना संभव है क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है ।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है यह भी वैसी ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है वा अधर्माचरण के अर्थ ? ॥ इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वल्लभ से ले के अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान

भवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते नान्यथा। भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते॥ अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह॥ वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा॥ वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति॥ अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति कुतः लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात्॥ तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात्॥ यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा॥ तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद्व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम्॥ पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः॥ आर्त्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्त्तिकारः॥ गोशब्देन पशुगुणवान्,

से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े बैल वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग परस्त्रीगमन पराया धन हरना अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं॥ इस विषय में वल्लभ कहता है कि—"लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है इससे अन्य सब बिपरीत हैं" इसीसे वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है।। वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें। विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्त्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये। पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार उसका जो अरि नाम शत्रु यह पूजारि शब्द का अर्थ है। आर्तिनाम दुःख को जो करे वह आर्तिकर्त्ता कहाता है। गोनामक पशुगुणयुक्त

साई शब्देन यवनाऽऽचार्यः ॥ अयं गोसाईयाख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तधर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति ॥ वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्द्दभो मध्यस्थो वेति वाबाजिशब्दार्थः ॥ रागोऽस्यास्तीति रागी वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः । दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत् ॥ हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोर्थाः ॥ इत्यादिशब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः ॥

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते ॥ शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः

साई शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे वह गोसाईं कहाता है वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं इसी से गोसाईं कहाते हो । वाजी नाम घोड़ा दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिचर यह "बावाजी" शब्द का अर्थ है ॥ राग जिसमें हो वह रागी वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "वैरागी" कहते हैं यही वैरागी शब्द का अर्थ है । दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो उसको दण्डवत् कहते हैं यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है ॥ काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है ॥ इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अबतक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है यह निश्चित है ।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं—शुद्ध और अद्वैत शब्द का

क्रियते ? । द्विधा इतं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतं । कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति च; नैवञ्छक्यं वक्तुम् ॥ कुतः ॥ अविद्यादिदोषराहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव ॥ यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद्ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ॥ तथाच ॥ जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च ॥ तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ॥ द्वीतमिति ॥ द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा ॥ सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते ॥ इति वल्लभप्रबुक्तनन्द्रष्टव्यम् ॥ द्विधा कारणकार्यरूपेण परिणतश्चेत्तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः

---

क्या अर्थ करते हो ? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता जो द्वीत है वही द्वैत और जो द्वैत न हो वह अद्वैत । कार्य कारण का एक रूप होता है अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ यह कहना ठीक नहीं ॥ क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्रूप होना अयोग्य ही है । यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है वह ब्रह्म ही है तो अनंत, विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें इस से बन्ध, नरक दुःख और विषययोग भी ईश्वर को ही होवें इस से वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये । और द्वीत, द्वैत एक ही बात है द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है यह वल्लभ का भूंकना है । कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे । पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है । वैसे ही आप के मत में

परिणामः ॥ तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारत्वजातमनेन किमागतामिति श्रूयताम् ॥ ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीड़ादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम् । वल्लभेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ॥ तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः ॥ कुतः ॥ विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः ॥ यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नानापित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति ॥ तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति ॥ किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयम खण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद्ब्रह्मणश्चेति यथाऽयमात्मा ब्रह्मेत्यत्रेदं शब्दे-

ब्रह्म ही जगत्रूप बनगया इससे क्या आया यह सुनो । जो जगत् में अविद्या ज्वर पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है यह जानना चाहिये । वल्लभ ने ( सर्वं खल्विदं ब्रह्म० ) इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है । जैसे किसी ने कहा है कि:— सब यह सुवर्ण है इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं हैं किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अभेद्य है । जैसे ( अयमात्मा ब्रह्म ) यह आत्मा ब्रह्म है इस वाक्य में इदम् शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता । ( तज्जलान् इति ब्रह्म ) "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता "तदन्" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे । अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही जगत् के जन्म मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो: कथा ही क्या है । यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है यह पहिले ही जताया है । सर्व शब्द से जितना देखा

नात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च ॥ तथा तज्जलानिति ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत तस्माद्‌ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनयिमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा ॥ "सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः। सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥१॥ बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्। कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥२॥ साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च। सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥३॥ शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः। अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥४॥ इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः ॥ कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः। कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात् ॥ षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता, अवास्तवौ द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम् ॥ शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोस्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान् मैथुनसमये द्वैतं स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते ॥ अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम इत्यादि

---

सुना यह जगत् है वह सब जानना इससे वह सब जगत ब्रह्मरूप सनातन है क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है उसी से यह जगत् हुआ है। इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं यह निश्चय जानो। शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण। जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्य कारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने से असङ्गत है। षष्ठीतत्पुरुषसमास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकर होसकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है इससे शुद्ध पुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है। अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना चाहिये क्योंकि

पतितत्वकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः ॥ कुतः लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः तत्पुत्रो वल्लभोपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद्गृही तथानैकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ॥ लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासङ्कुर्वन्तीमान् गुरूँश्च मन्यन्ते तेपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् ॥ एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः ॥ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्यु-

इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त ( संन्यास ) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। इनके आदिपुरुष लक्ष्मण भट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है पाप नहीं इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण हैः—गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है किन्तु हिंसा नहीं कहाती। धर्म

स्तं मन्युमृच्छतीति" ॥ २ ॥ धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्तेत स आततायी विज्ञेयः ॥

( प्र० ) शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत, उतान्धकाररूपम् ? ॥

( उ० ) नाद्यः कुतः स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात् । न चरमः स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपश्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् ॥ एवमेव सत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ॥ एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ॥ किन्तु परस्त्रीगमन-परधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम् ॥ तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते । निजमुरलिकेति ॥ मुरलिकानादेन तेनागता

को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है ।

प्र०—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ? ।

उ०—प्रकाशरूप होना पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके सो सम्भव नहीं । स्वभाव से अन्धकार स्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकार स्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे इसी प्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड और सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो । जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है । किन्तु परस्त्रीगमन पराया धन हरना, और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था अन्य किसी कार्य में नहीं सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं विट्ठलकृत विद्वन्मण्डन नामकग्रन्थ में ( निजमुरलिका० ) इत्यादि लिखा है अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द

गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परास्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम् ॥ प्रतिलक्षणे । युवतिं युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव ॥ कुतः ॥ मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात् ॥ एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम् ॥ तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव ॥ तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते । राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः ॥ अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति ॥ अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति ॥ पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीराभिसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे ॥ तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति । प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत इत्यादि श्रुतिषु वर्णितम् । तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु

सुनके गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया । अर्थात् युवति २ स्त्रियों को देखकर जितनी गोपों की स्त्रियां थीं उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मण्डन नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है । इसी प्रकार अणुभाष्य भी असङ्गत ही है और ऐसे ही रसभावना आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं । इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं ॥ राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये ॥ तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं ॥ सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक २ स्त्री को एक २ पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं ॥ और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है प्रभु नाम ईश्वर का है ॥ प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है यह वेद में कहा ॥ जब उस ईश्वर के तुल्य अबतक न कोई हुआ न होगा तो उससे अधिक कौन हो सकता है,

का कथा ॥ पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः ॥ यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक् ॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यासिते दले ॥
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागतः ॥ १ ॥

फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं ॥

इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिनिर्मितस्तच्छिष्य-भीमसेनशर्मकृत-
भाषानुवादसहितश्च वेदविरुद्ध-
मतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः ॥

शताब्दी-संस्करण

# शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

पृष्ठ८१५—८४५.

# शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

—:o:—

| आवृत्ति | सन् ई० | संख्या |
|---|---|---|
| प्रथम ... | १९०१ ... | १००० |
| द्वितीय ... | १९०६ ... | १००० |
| तृतीय ... | १९१९ ... | १००० |
| शताब्दीसंस्करण | १९२४ ... | १०,००० |
| | | १३,००० |

ओ३म्

# सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

प्रश्न—कोऽयं सहजानन्दो नाम ? ।

उत्तर—नारायणावतारः स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः ।

प्र०—कश्च नारायणः ? ।

उ०—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते ।

प्र०—स इदानीमस्ति न वा ? ।

उ०—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् ।

नैवं शक्यम् । सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धमित्यादिश्रुतिविरोधात् । ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यत्वादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति, तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा । तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतो मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात् । स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियम्ब्रह्मनिष्ठम् ॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यम्प्रचक्षत इति ब्राह्मणमनुसाक्ष्यवर्ते-

(१) अ० ४० । मं० ८ ॥

(२) मुण्डकोप० मुण्ड० १ । खं० २ । कण्डि० १२ ॥

(३) अ० २ । श्लो० १४० ॥

मानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्वे पाखण्डाचारा विज्ञायन्ते । तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ॥ १ ॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्त्यत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम् । वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रास्तीति स्वीक्रियताम् । कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते । इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति । वृन्दावने विहरन्कृष्णः न केनापि दृश्यते । किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते नैव कृष्णः । पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय कृष्णं हृदि चिन्तय इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति ॥ १ ॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः ।
गृहस्थाश्च मयाराममट्टाद्या ये मदाश्रयाः ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासंगतम् । एवमेवास्याःश्लोकाः प्रायशोऽशुद्धास्सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि ।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात् ॥ १३ ॥

पाषाणादिमूर्त्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात्तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति प्रलापात्सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते ॥ १३ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित् ।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः ॥ १४ ॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मस्सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः । कुतः । वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानाम्प्रचारकरणात्सहजानन्दे वदतोव्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥१४॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद्वा पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥ १५ ॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः । वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात् । अतः किं समागतम् ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात्कदाचित्केनाचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्णः प्रभुरेव न तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात्कार्य्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्य्यो न राज्ञा नच तज्जनैः ॥ ३४ ॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद्याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोःप्राप्तै तुलसीमालिके गले ।
धार्ये नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः । वेदयुक्तिभ्यां विरोधात्स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यम्भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यम्भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥ इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्यैव वेदितव्याः ।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात्स्वकुलागता ।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः ॥ ४६ ॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

एवञ्चेत्सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित्त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितञ्च । मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति तद्व्यर्थमेव । कुतः । तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥४६॥ नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावोऽतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चा तत आदरात् ।
शक्त्या जपित्वा तन्मंत्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥ ५४ ॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यन्नैव भवेदतस्तत्पूजा कर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥५४॥

शैली वा धातुजा मूर्त्तिः शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥ ५६ ॥

अस्माच्छ्लोकाद्विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जड़बुद्धिरासीदिति । कुतः । वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात् । कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च ॥ ५७ ॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकन्ततः ।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यञ्च तैः सदा ॥ ५८ ॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्पाषाणादिजड़मूर्त्तेर्भोजनकरणाभावाच्च नैवेद्यकरणं व्यर्थमेव । इदन्तु खलुच्छलमेवास्ति । कुतः । अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५९ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद्यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत्तु यत् ॥ ६२ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च, तत्कृष्णस्वरूपमेव न, किन्तु तत्पाषाणादिस्वरूपमेव ।

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम् ।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चैः राधिकापतेः ॥ ६३ ॥

तच्च कदाचित्केनचिदपि न सेव्यन्नचैव वन्द्यम् । किन्तु यस्सर्वशक्तिमान्जो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान्परमात्मैव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥ अतएवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्त्तनं कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रयुक्तस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीदसदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते । अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च । किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद्ये स्वीकरिष्यन्ति सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् । एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ६३ ॥

एकादशीनां सर्वासां कर्तव्यं व्रतमादरात् ।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७६ ॥

एकादश्यादीनि व्रतानि वेदे क्वापि न विहितानि । किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि । अतएवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७६ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्य्यनन्दनः ।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥

कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः ।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥

कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि ।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥

विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः ।
एते पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम् ।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विठ्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत्कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१ ॥ द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते । कुतः । जड़े पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति ॥ किञ्च ॥ अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यइति छान्दोग्योपनिषदि । सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी चेत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद्वेदेश्वरविज्ञानानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः । यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च । शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्द्रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला । परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पश्चत्वाभावादेताः पूज्यतया मान्या इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसंगत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥ भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति । अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।
पुराणं, भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ९३ ॥

तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ९४ ॥

(१) प्रपा० ८ । खं० १५ । कंडि० १ ॥

धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेःस्मृतिः ।
एतान्यऽष्टौ ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥

स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि ।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ॥ ९६ ॥

तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये ।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ॥ ९७ ॥

श्रीमद्भागवतस्यैषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ९८ ॥

दशमःपञ्चमःस्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ९९ ॥

शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥

एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥

मंतव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः ।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः ॥ १०२ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धाः सन्ति । श्रीमद्भागवतादिपुराणानां भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषान्तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणान्मिताक्षराटीकान्विताया याज्ञवल्क्यस्मृतेरेव ग्रहणात्पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूतधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद्विषयासक्तो वेदनिन्दकोपि सहजानन्दोस्तीति विज्ञायते ॥ ९८ ॥ दशमस्कन्धे भक्तिशा-

त्रस्य लेशोपि नास्ति किन्तु व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनन्तत्रास्त्येव प्रसिद्धम् । पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनन्नास्ति किन्तु योगाभासप्रतिपादनन्तु तत्रास्त्येव । श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात्पिष्टपेषणवद्दूषितायाः याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात्सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ ९९ ॥ रामानुजकृतस्य शारीरिकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥ श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः नच स्ववाक्यानाम् । अतएव सहजानन्देनात्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युरित्युक्तत्वाद्भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥१०१॥ वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने वेदेभ्योपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं ब्रुवन्सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥ १०२ ॥

हृदये जीववज्जीवे योन्तर्यामितया स्थितः ।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १०७ ॥

स श्रीकृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमः ।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥ १०८ ॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः ।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥ १०९ ॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः ।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥ ११० ॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति,सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात् ॥ १०७ ॥ जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात्कृष्णःपरब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमःकदाचिन्नैव संभवति । पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दःकथयति स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥ १०८ ॥ राधा

त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥ "तत्तन्नामोच्यते सचेति" सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव । कुतः । सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तञ्चातो बोध्यम् ॥ ११० ॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि ।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम् ॥ ११३ ॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्नवेति विदुषां सन्देहः । सच परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च । पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोन्यत्कल्याणकरं किंचिन्नास्त्येवेति वदन्सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत् ॥ ११३ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत्परं फलम् ।
कृष्णे भक्तिश्च तत्सङ्गोऽन्यथा यांति विदोप्यधः ॥ ११४ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्यामतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोविज्ञानमपि यथावन्नासीदिति । कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदाविरुद्धा चास्ति । विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाःप्रकाशस्वरूपत्वात् । किंचाविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते । कुतः । अविद्याया अधर्माचरणान्धकारवत्त्वात् ॥ ११४ ॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम् ।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥ ११५ ॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मस्वरूपश्चेद्ब्रह्मणातुल्यत्वं तस्मिन् कुतो न दृश्यते । तुल्यत्वश्चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्राचितञ्जीवेन नवीनजगत्किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते । जीवब्रह्मणोरैक्यञ्चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीड़ाबन्धादिदोषयुक्तञ्जातमेवेति स्वीक्रियताम् । जीवाद्ब्रह्म भिन्नञ्चेत्प्रतिज्ञाहानिः, कृष्णोपि ब्रह्मभक्त, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवितव्य-

न्नैवान्यस्य कस्यचित्कृष्णादेर्जीवस्य चेति। एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम् ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम् ।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥ १२१ ॥

चक्राङ्कितवत्सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम् । विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते । अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः । विशिष्टो नाम मिलितः । केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवञ्चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम् । द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति। विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ,तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति । तद्यथा सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्त्येवं स्वगतभेदोपि ब्रह्मणि नास्त्येव संयोगवियोगाभावात् । अतएव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसंमतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः। एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवाम्पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात्सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । गोलोक एव निवासत्वात्कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥ १२१ ॥

मया प्रतिष्ठापितानां मंदिरेषु महत्सु च ।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥ १३० ॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैव भवन्ति, वेदानभिहितानाम्पाषाणादिमूर्त्तीनाञ्जड़त्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनान्तदानीञ्चेतनत्वात्पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधिखण्डनमेव कर्त्तव्यन्नैव च पूजनमिति।१३०।

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः ।
कृष्णमंत्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥ १३३ ॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटम्प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशश्चोक्तवानतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते॥ १३३॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः॥ १४७॥:

परधनहरणार्थं निजसुखार्थश्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशांशञ्च धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात्सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या यथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च। ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्य्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाताऽतःसर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीया, अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम्॥ १४७॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्तव्यं चिन्तितार्थदम्॥ १४८॥

कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा।
विल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम्॥ १४९॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तर्ह्युद्यापनेन विना धनलाभः शिष्येभ्यो नैव भविष्यति, पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात्पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामह एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम्॥ १४८॥ ॥१४९॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम्॥ १७७॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता, सा स्त्री नासीत्किम् ? । पुनश्च वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसीति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च, ताश्च साध्व्यादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते, तासां राधादीनाञ्च कथा किमर्था क्रियते । अतएव प्रमत्त-गीतवत्प्रलापात्सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ।। १७७ ।।

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।
न द्रव्यसंग्रहःकार्यः कारणीयो न केनचित् ।। १८८ ।।

न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यन्न कर्हिचित् ।
न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन ।। १९० ।।

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपादिश्यते भवता तर्हि भवानसाधुर-स्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियादिकं नैव कर्त्तव्यं किम् ? ।। १९९ ।। कस्य-चिन्न्यासस्थापनन्नैव रक्षणीयश्चेद्विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम् ? । वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्य स्थापनं किमर्थं क्रियते सहजा-नन्देन च किमर्थं कृतम् ? । किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ।। १९० ।।

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया ।
सांप्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषान्तु विस्तरः ।। २०३ ।।

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना ।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ।। २०४ ।।

इति संक्षेपत इति ।। धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम् । किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते । वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोस्ति,तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति, लिखितस्य धर्मस्य पुन-र्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात् । सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदा-

यिको ग्रन्थो वेद एवास्ति । पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम् । विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम् । प्रथने वाव शब्द इति व्याकरणनियमात् । कथनश्रवणोपाधावेव विस्तर इति भवितव्यन्नान्यत्रेति निश्चयः ॥ २०३ ॥ सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणाम्बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते । वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनात् असारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते । अभीष्टफलदायिनीति प्रलोभनमात्रम् । सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखं, तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुमनुभवविरुद्धमेव । ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादया दोषा विज्ञायन्ते । प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति, तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति, पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम् ॥ २०४ ॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा ।
ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ॥ २०६ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धासिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥ २०६ ॥

नेत्थं य आचरिष्यान्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः ।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः ॥ २०७ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणङ्कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यमितीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव । वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यम्पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान्पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्सहजानन्दादिरचितान्वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान्ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान्सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥ २०७ ॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः ।
कर्त्तव्यो नक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥ २०६ ॥

वक्तभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥ २०८ ॥

युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयन्तु पत्रिका ।
असुर्यासम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥ २१० ॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थे एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥ ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव । वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्पुनः परमादरान्मान्यातु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति । एतत्कथनं सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान्भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकन्तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥ यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् । यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्त एतां स्वीकरोति तस्मिन्सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात् । सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोयं सम्प्रदाहः, इदानीन्तनास्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥ २१० ॥ मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या ? । मिथ्यैवेति निश्चयः । कथं यो मृतः स आगन्तुम्पूर्वदेहकार्यं कर्त्तुञ्च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनीकृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेद्भोगार्थञ्च न चैवागच्छति । किमतो विज्ञायते ? । छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति, नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति । स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि

रचयित्वाऽग्नौ प्रतप्य बाहूमूले च सजीवान्देहान्दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था अहो महत्पापमिति वेद्यम् । केचितु बकवृत्तिवत्साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च । तदाचार्य्यो गृहस्थोस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ विवाहावप्येक कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन्सम्प्रदाये वर्त्तते तास्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम् । इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्ध्योहनीयमिति ।

"सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥ १ ॥

भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले ।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत्" ॥ २ ॥

# स्वामीनारायणमतखण्डन

( गुजराती का भाषानुवाद )

## सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है ।

प्रश्न—नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला चतुर्भुज द्विभुज और लक्ष्मीपति ईश्वर है ।

प्रश्न—वह अब भी ( अभी ) है कि नहीं ?

उत्तर—ईश्वर नित्य है इससे वह अब भी है ।

ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में कहा है कि:—

"ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पापरहित है" ।

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म मरण और देहधारण है ही नहीं । जिसका जन्म मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते । फिर आज कल के सहजानन्द से तो क्या कहना है ? । प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द

मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है। ब्राह्मण भाग में कहा है किः—

"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये"। और वहीं मनु भी साक्षी देता है किः—

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु, अपने शिष्य को, यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद, वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये"।

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षापत्री से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है। सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित हैः—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं, और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय में ध्यान धरता हूं" ॥ १ ॥

राधा, वाम और दक्षिण पश्चिम आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी है सो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं। इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है। जब कि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी है तो कृष्ण के मुख में दरिद्रा बैठी है ऐसा मानना पड़ेगा। महाभारत में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये"। अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है। कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती हैं। निराकार, जन्ममरणरहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं ऐसा कहना मिथ्या है।

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मयाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर अवस्था रक्खी नहीं इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है। इसी प्रकार से इनके बहुतसे आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवे उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया इस से और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था।

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥ १४ ॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम का त्याग किसलिये किया ?। जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध मूर्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया ?। यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहांतक कि अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है।

"जिसके कहने से कृष्णभक्ति में भंग पड़े उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम प्रतिपादन प्रकरण चला है वहां पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है ऐसा नहीं कहा।

यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उस के सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये, कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना ही नहीं बन सकता, क्योंकि इनके जन्म मरण आदि दोष हुए हैं।

"स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद विवाद नहीं करना चाहिये" ॥३४॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने के योग्य नहीं।

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षा, तुलसीमालाधारण और ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र आदि जो कहा सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो थोड़ासा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है ऐसा मानना पड़ेगा। और जो ऐसा मानता हो तो यह काम जल्दी करो। सहजानन्द के ऐसे २ कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता हो तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नारायण और केशव को एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥४७॥

त्रिपुण्ड्र, रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई? "मेरे आश्रितों को" ऐसा वचन सहजानन्द ने बार २ लिखा है सो मिथ्या है, क्योंकि जिसको जन्म मरणादि दोष प्राप्त हुए ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है। नारायण और शिव दोनों एक ही हैं ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है सो मिथ्या है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं।

"इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से

दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना। उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये" ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो ? । यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है वह बिलकुल असत्य है।

."पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना"॥५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध कृष्ण-मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है।

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाक़ी बची प्रसादी आप खानी चाहिये और कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके उसी प्रकार तत्पर रहना" ॥ ५८ ॥

हार प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण स मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छल कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुं पुं करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है।

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा करदी हो उस हा की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी। हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर म जाना और वहां राधापति कृष्ण का ऊंची आवाज़ से कीर्त्तन करना" ॥ ६२—६३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि यह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को भी कभी सेवनीय नहीं। इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्,

अवताररहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्य्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये। शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की और जिसका जन्ममरण हुआ ऐसे राधापति कृष्णनामक मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊंची आवाज़ से कीर्त्तन करना ऐसा जो ऊपर कहा सो सब मिथ्या उपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है। वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी ऐसा अनुमान किया जासकता है। इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है और न होगी भी। जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपातरहितन्याय और वैरबुद्धित्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता और न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं।

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों का रखना और कृष्ण के जन्म दिवस और शिवरात्री को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥ ७९ ॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है। अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों का रखना व्यर्थ है।

"सम्पूर्ण वैष्णवों के आधिपति जो वल्लभाचार्य्य, उनके पुत्र विट्ठल ने जो २ उत्सव निर्माण किये हैं उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये। जिस प्रकार से विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है उसी प्रकार ग्रहण करनी। द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी। मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये। भूत प्रेतादि उपद्रव करें तो नारा-

यण-कवच अथवा हनुमान-मन्त्र का जप करना। परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं ॥ ८१, ८२, ८३, ८४, ८५" ॥

सर्ववैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विठ्ठल ने परधन-हरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है। इससे सहजानन्द भी दुष्ट था यह सिद्ध हुआ। द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया वह केवल भ्रान्ति से ही किया है यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है। जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोकादि दुःखों से तरे उसी का नाम तीर्थ होता है। शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है इससे उनकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये और इन पांचों की पूजा करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है वह मिथ्या है। भूत प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा।

"वेद, व्याससूत्र, भागवत, भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्धपुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं उनको इन शास्त्रों का सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूं। भागवत के पांचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पांचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा

धर्मशास्त्र वर्णन किया है। शारीरिक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन २ वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२ ॥

ऊपर के सब श्लोक अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्याभूतप्रेतधर्म्मकथाप्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था। दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभास का प्रतिपादन किया है। सूत्रसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरिक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था यह सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यह सहजानन्द का शरमा के डूब मरना जैसा है।

"जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से

जीव में रहता है, वह स्वतन्त्र और सब को उन २ के कर्मों का फलदाता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य, इष्टदेव, सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण ( प्रसिद्धकर्ता ) है। जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मीनारायण, अर्जुन के साथ हो तब नरनारायण और जब बलभद्रादिकों से युक्त हो तब उसको वैसा २ नाम देना चाहिये" ॥ १०७, १०८, १०९, ११० ॥

जीव के सदृश कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्तस्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्दोषी, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी यह जो सहजानन्द ने कहा है इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो अनय नामक ग्वाले की स्त्री थी, कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था, कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथन कर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्तिरहित दिखाई पड़ता है।

"उन्हीं की ही ( सिर्फ कृष्ण की ही ) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है" ॥ ११३ ॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, इनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है।

"गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना । उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा" ॥ ११४ ॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छान्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी । कृष्ण मर गया, इसलिये अब उस की भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है । विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है ऐसा दीख पड़ता है ।

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उस में ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी" ॥ ११५ ॥

जो जीव ब्रह्मरूप हो तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती ? । जो जीव ब्रह्मतुल्य हो तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा इसी प्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता ? । जो जीव ब्रह्म एक हो तो अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोक, ठंढीताप, सुखदुःख, तापपीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे । जो जीव से ब्रह्म भिन्न हो तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ । कृष्ण स्वयं ही ब्रह्मभक्त थे । इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति करनी ही नहीं चाहिये । एक कृष्ण की ही भक्ति करनी यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा उस से सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है ।

"मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्रांकित के समान है ऐसा दीख पड़ता है । विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इस प्रकार करते हैं कि:—

अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है । कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं । इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता ।

दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन हा नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म ता अवश्य अद्वैत है। सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता। वेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है। यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना। अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं।

गधा आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान ह इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही गधा बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण-सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा जो सहजानन्द ने बका है सो मिथ्या है।

"मने बड़े २ मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादिमूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है उनकी यथाविधि सेवा करनी" ॥ १३० ॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिलकुल विद्याधर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहने वाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता, क्योंकि वेद में मूर्त्तिविषय में कुछ कहा नहीं। इसलिये, और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि सो चेतन थे इस हेतु से, मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये न कि पूजन करना।

"दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने २ पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमात्र का उपदेश करना चाहिये" ॥ १३३ ॥

सहजानन्द को यह ज्ञात था कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धनप्राप्ति कभी होय नहीं, अतः स्पष्ट रीति से दीख पड़ता है कि सहजानन्द ने एक दम छल कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुरदे का मन्त्र उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है।

"अपने कमाये हुए धन धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें और जो मनुष्य दुर्बल हों वे बीसवां भाग कृष्ण को देवें" ॥ १४७ ॥

पर-धन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है। इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत्किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवां, वीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना। तो कृष्ण खुद तो दसवां अथवा वीसवां भाग लेने को आही नहीं सकता और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ-सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है। ऐसे २ धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़ मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं।

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना। उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है। श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें करावें" ॥ १४८, १४९ ॥

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय। श्रावण महीने में महादेवपूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा मिलेगी नहीं, ऐसे २ विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है।

"देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उन की तरफ़ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं" ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी ? और जिन की बाईं तरफ राधा है इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया ?। सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं ?। इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं।

"सब इन्द्रियों को जीत लेना उनमें से विशेष करके रस इन्द्रिय को जीतना । किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं । इसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना । किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपनी रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १८९ ॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे ऐसा जो तुम उपदेश देते हो तो तुम क्या असाधु हो ? । तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ? । ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ? । वेदधर्मयुक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया ? । सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये ।

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है और इन धर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना । मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्य को इष्टफल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०३–२०४ ॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं किन्तु अपना कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है । वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म्म लिखा है उस का ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था । लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है । क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है । मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वह वेद ही है और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं । "विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है । "विस्तर की जगह विस्तार" शब्द लिखना चाहिये । कथन, श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तार प्रयोग होता है । सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्तिविरुद्ध पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठीतिलकधारण आदि भ्रष्ट कर्मों

का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्टफलदायकः है। परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे २ वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं और वृद्धि न हो तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न हो और जो उस की प्राप्ति न हो तो इष्ट विषयसुख नहीं मिले, अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी।

"जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्त्ताव करेंगे उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे"।

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा उस को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा बल्कि अधर्म, अनर्थ, दुष्टइच्छा, बन्ध, नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे।

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री पुरुषों को समझना चाहिये"।

पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कभी कोई न करें और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होगी।

वेदादि सत्यशास्त्रोक्त, सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्यायधर्म का त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुए शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेदयुक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे श्रेष्ठ पुरुष उन सब को सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें।

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज पाठ करें और जो विद्याहीन हों वे प्रीति से उसे का श्रवण करें और जो श्रवण करना भी न बने तो इस

शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवीमार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी असुर को न देवें"।

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है।

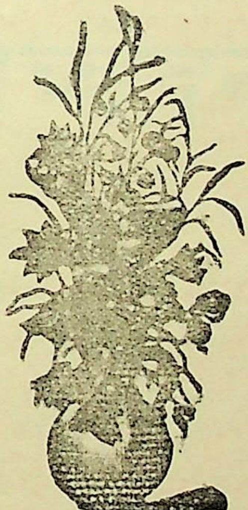
इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें ऐसा जो सहजानन्द ने कहा सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमा कर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है। जो दैवीमार्गी होगा वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय को स्वीकार करता है उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये। क्योंकि ऐसा सम्प्रदाय अन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय उसका नाम सम्प्रदाह पड़ता है। वर्त्तमान में जितने विरुद्ध सम्प्रदाय हैं उन सब को सम्प्रदाह नाम देना चाहिये।

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है और परम सुख देता है इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है वह सत्य है कि मिथ्या?।

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है। क्योंकि जो पुरुष मर गया वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सकता। जो कभी वैसा करने में समर्थ हो तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे २ कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदाय वालों को अत्यन्त पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं वे स्त्रीदर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते। गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मन्दिर बांध कपट से द्रव्य आदि पदार्थों को छीन लेते हैं। दो २ विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये।

समाप्त



शताब्दी-संस्करण

# भ्रमोच्छेदनम्

पृष्ठ ८४७—८६६.

# भ्रमोच्छेदनम्

—:o:—

| आवृत्ति | सन् ई० | संख्या |
|---|---|---|
| प्रथम | ... १८८० ... | १००० |
| द्वितीय | ... १८८७ ... | १००० |
| तृतीय | ... १८९७ ... | २००० |
| चतुर्थ | ... १९१३ ... | १००० |
| पंचम | ... १९१६ ... | १००० |
| शताब्दीसंस्करण | १९२४ ... | १०,००० |
| | | १६,००० |

ओ३म्

# भ्रमोच्छेदन

## अविद्वानों का

मैंने राजा * शिवप्रसाद सितारहहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में, बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच, प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही, महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मतमतान्तर के इस वर्त्तमान समय में, शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं?।

देखना चाहिये कि जैसा उनको मैं सुनता हूं वैसे ही वे हैं वा नहीं ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया था परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ † था कि कुछ वार्तालाप होता। मैं प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास करता था। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी, प्रसिद्ध एस्. एच्. कर्नल ऑलकाट् साहब और एच्. पी. मेडम ब्लेवेस्तकी को मिलने के लिये, आनन्दबाग़

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थसम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

† एक वार सय्यद अहमदखां सदरस्सुदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था पर वार्त्तालाप नहीं हुआ।

में आ, उनने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जबतक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठगये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं। परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया *। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया। यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े संदेह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है †। जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुन के यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था?। जैसा कोमल लेख उन के पत्र में है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं ‡। किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है। देखो मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते थे। क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये?। जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेज के प्रत्युत्तर क्यों चाहे?। मेरे चलने समय प्रश्न पूछना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना, और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना, कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात

* राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

† कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी न समझा सकता, न वह विना पढ़े समझ सकता है।

‡ हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं।

नहीं है ? *। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ? ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने में मनुजी की भी साक्षी अनुकूल है।

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥

अर्थ—( यः ) जो ( अधर्मेण ) अर्थात् अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से † ( पृच्छति ) पूछता है, ( च ) और ( यः ) जो ( अधर्मेण ) पूर्वोक्त प्रकार से ( प्राह ) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उस को उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है ( वा ) अथवा ( विद्वेषम् ) अत्यन्त विरोध को ( अधि, गच्छति ) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ‡ तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ? । हां मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म

* जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी तभी उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा।

† जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर कुछ और होवे वह छली कहाता है।

‡ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता।

से उन सबों के समाधान करने को एक वार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं। परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर न पूछता और न कहता है तबतक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं, अर्थात् जब २ अयोग्यपुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं तब २ प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित होजाता है *। अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में निवेदनपत्र छपवा के प्रसिद्ध किया है उसी के उत्तर में यह पुस्तक है।

इसमें जहां २ ( रा० ) यह चिह्न आवे वहां २ राजा शिवप्रसादजी और इसके आगे जो २ लेख हो वह २ उन्हीं की ओर से समझना और जहां २ ( स्वा० ) यह संकेत लिखा है वहां २ स्वामी दयानन्द सरस्वती और इसके आगे उन्हीं का लेख जानना योग्य है।

रा०–जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा, महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा, महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ९ से ८८ † तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी, आधे २ वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध का जो प्रतिकूल पाये परित्याग, ‡ उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उनक

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता। परन्तु जिसके नेत्र ही फूटगये हैं उसको तो कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

† शताब्दी संस्करण पृष्ठ २९८ से ३६६ तक।

‡ देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उस को मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है

अर्थ पलट दिये मनमाने लगा लिये *, परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा ? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ।

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है ? । और यह भी सच है कि जब २ अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रंथ को देखने लगता है तब २ काच के मंदिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस २ सुख के बदले दुःख ही पाया करता है ।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो उतना ही लिखना उचित होता है न अधिक न न्यून । जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था उतना ही लिखा है । जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती तो वहां उस २ भाग का लिखना भी योग्य था । प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं † । सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रंथों ही के साथ सम्बन्ध होता ही है । जब ऐसा है तब राजाजी को अपनी

---

उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं । इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं । क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है ।

* जैसी राजाजी की समझ है वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती, क्योंकि जो २ व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है उस २ को वे उलटा समझते हैं । और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया । क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण कराना वैद्य का दोष है । और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है । उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं यह उनकी समझ का दोष है ।

† जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है वैसा काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता ।

बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रंथों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है * कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी संपूर्ण का लिखना उचित समझते हैं सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जब कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं वही आप के ( अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ) इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली † तो ऐसी है ( अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नियमाना यथाऽन्धाः ) फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा ?। तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायंगे। क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो। किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं ‡, जो ऐसा न समझते तो ( एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टगं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ) इस वाक्यसमुदाय को स्वामिजी ने नहीं लिखा यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें। उन्होंने न कभी

* मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो वहां उतना ही लिखना।

† चेत करना चाहिये यह उलटी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना।

‡ ऐसा असंभव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है और न हाथ से लिखा जा सकता है।

किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो ( एवं वा० ) इससे लेके ( निःश्वसितानि ) इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते *। देखिये यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है ( एकतिङ्वाक्यम् ) जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो वह वाक्य कहाता है। जैसे ( एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति ) एक और ( पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति ) दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कंडिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य ( त्वं विद्धि ) इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं। क्या जिनको वाक्य का बोध न हो उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिन को पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो उन को प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है †। इसलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है सो बहुत ठीक वा सत्य है कि इससे मुझ को निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त विद्यापुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है ‡। इसलिये उन को मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ।

* जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते तो उन के मुख से ऐसी असंभव बात कभी न निकलती।

† राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां ( अन्धानां मध्ये काणो राजा ) यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।

‡ ईश्वरोक्त चार वेद स्वतःप्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण में ग्रहण न होसके, क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया गया है। इसलिये जो राजाजी ने नोट में ( स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा ) लिखा है सो भ्रम से ही है।

क्या अब जिसको थोड़ीसी भी बुद्धि होगी वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? । यहां चोर कोट-पाल को दंडे यह कहानी चरितार्थ होती है, कि जो ( अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ) के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को मानने हारे पर झोंक देते हैं । क्या यह उलट पलट नहीं है ? । इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित कराता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्यजन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःख-दुर्गन्धसागररूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें, और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें । अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपात रहित विद्वत्ता की परीक्षा बाक़ी है सो करनी चाहिये ।

रा०—श्रीमत्पण्डितवर * बालशास्त्रीजी ता बाहर गये हैं परमपूजनीय जगद्गुरु † श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच जा पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हंसे ‡ और पिछले उत्तर पर जिस में इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति ।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो उनके साक्षी तत्स-दृश क्यों न हों । क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित्, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त

* काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं ।

† जगत् में जो २ उनके शिष्यवर्ग में हैं उन २ के परमपूजनीय और गुरु होंगे सब के क्योंकर हो सकते हैं ।

‡ जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते तो हास करके अयोग्यपत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते ।

अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें। और इससे सजातीय-प्रवाहपतन न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यता की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें *। भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आप ने जिसलिये वेदादि विद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है जो तुम को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूँगा। यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते †। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीनटीका-नुसार दश उपनिषद्, शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से ‡ विस्मृत होगये होंगे। तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत के पदवाक्यप्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी, अस्तु। जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा

* जो कोई विना विचारे कर बैठता है उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

† यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

‡ सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें।

प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे। जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये वे तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों को विचार शुद्ध लिख कर मेरे मुंशी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मेरा मुंशी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं इस निश्चय के लिये पत्रद्वारा आप से संमतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेगा और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्रसहित उनके पास भेज दिया करेगा। वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे। क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते? और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते? *। जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आये पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसे किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?। जो इस में एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल-

* उन को अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में प्रति दृढ़ोत्साहयुक्त हो के निन्दा स्तुति हानि लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें।

जाती। कहिये राजाजी! जो आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा, सम्मति लिखा, पुस्तक छपाकर, इधर उधर भेजने से भी न बच सके तो आप के जाट खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं?। अब इस बोझ के उतारने के लिये आप को योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिर कर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्-विवाक अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िये। अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उन को निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़ सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है?। और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे वह संशयसमुद्र में मग्न होकर विनष्ट क्यों न होवे?।

अब मैं सूचना करता हूं कि बुद्धिमान् आर्य लोग, पक्षी राजाजी, और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख, उस पर विश्वास कर, इस (कास्ताः क्व निपतिताः) महाभाष्योक्तवचनार्थ के सदृश होकर, धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है वैसा मैंने नहीं कहा था। किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है?।

स्वा०—वैदिक ।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ? ।

स्वा०—संहिताओं को ।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ? ।

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता । किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं ।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ? ।

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है । जीवोक्त को वेद नहीं कहते । जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषिमुनिप्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत है । जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता । क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं । परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं । वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता । क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं । यह मेरे पत्र का लेख उन के भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था । परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इस में राजाजी का दोष नहीं है ? ।

रा०—वादी * कहता है जो संहिता ईश्वरप्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वरप्रणीत हैं † ।

---

* जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ।

† क्या विद्या और सुशिक्षारहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? ।

स्वा०-देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को। जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०-और जो ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०-यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वतीप्रणीत है तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०-वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये *।

स्वा०-देखिये राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है। क्योंकि जैसा शब्द और उस में जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं वैसा ही प्रतिध्वनि सुनने में आता है विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्धपक्ष प्रतिपादन नहीं करता तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है ?।

रा०-आप ने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं आप का संहिता परतःप्रमाण होगा।

स्वा०-क्या यह उपहास की बात नहीं है, जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वतःप्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वतःप्रकाशमान हैं।

* जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता। क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता।

रा०-आपने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव (९) पृष्ठ से लेके अट्ठासी (८८) पृष्ठ * तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेद-संज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे मैं तो और भी भ्रांति में पड़गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया। और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान जो आप ने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०-यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतः-प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के २१ पृष्ठ † में आगे लिखे हैं। क्या बांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंखें अन्धकारावृत होगये थे। परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उन को मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः-प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०-तस्माद्यज्ञात् अजायत अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए पृष्ठ १० पङ्क्ति २९ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०-जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि तच्छब्द सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने (सहस्रशीर्षा पुरुषः) यहां से लेके (ग्राम्याश्च ये) यहां तक जो छः

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ से ३६६ तक।

† शताब्दी संस्करण पृ० ८६० से ८६१ तक तथा भ्रमोच्छेदन पृ० १२ देखो। पृ० २१ का निर्देश भ्रमोच्छेदन की हस्तलिखित कापी का है।

मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्तकारण परमात्मा पूर्वोक्त है उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है। देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति १३ * तस्माद्यज्ञात्स० तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः ( ऋचः ) ऋग्वेदः ( यजुः ) यजुर्वेदः ( सामानि ) सामवेदः ( छन्दांसि ) अथर्ववेदश्च ( जज्ञिरे ) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। यह सर्वहुत और यज्ञ विशेषण पूर्ण पुरुष के हैं। ( तस्मात् ) अर्थात् जो सब का पूज्य सर्वोपास्य सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये ( यज्ञो वै विष्णुः ) यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता। जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थसम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते †।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है आप पृष्ठ ८० पङ्क्ति २६ ‡ में लिखते हैं कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ ¶ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और

* शताब्दीसंस्करण पृ० २६८ पं० २४ से।

† प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ८।

¶ शताब्दीसंस्करण पृ० ३२२ पंक्ति ६।

फिर पृष्ठ ५३ * में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आप के निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे ) † ।

स्वा०—इस का प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पङ्क्ति २८ से लेके पृष्ठ ८८ की पङ्क्ति १२ ‡ तक में लिख रहा है जो चाहे सो वहां देख लेवे। और जो वहां ( एवं तेनानुक्तत्वात् ) यह वचन लिखा है उस का यही अभिप्राय है कि ( मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ) यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता §। क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ?। जो इन को भी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?। और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो। और जो उनको भी आप्त मानते हो तो मन्त्रसंहिता ही वेद है उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते, क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते। और जो सैकड़ह आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

---

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३२३ पंक्ति १४।

† वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था।

‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३५७ पंक्ति ७ से पृ० ३६६ पंक्ति १७ तक।

§ हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वह वेद है ।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहां २ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है वहां २ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है वैसा उनका भी लिखा है । इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है । और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता । जो वेदों में इतिहास होते तो अनादि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते, क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है । जब कि वेदों में ( त्र्यायुषं जमदग्नेः ) इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है । जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही र्थों का ग्रहण करना योग्य है वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है । इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है । राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते ।

रा०—उस में भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है ? ।

स्वा०—इस का उत्तर यह है कि एक ईशावास्य उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है और केन से ले के बृहदारण्यकपर्यन्त नव (९) उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उन की भी इतिहासादि संज्ञा "ब्राह्मणानीतिहास०" इस पूर्वोक्त वचन से है । इससे ( एवं वा अरे० ) इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता । परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो ( मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी )

ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते * ।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं, यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है ।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती । क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे ? । इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मण ग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतःप्रमाण और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हों तो अप्रमाण और अनुकूल हों तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं । क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिता के मन्त्रों की प्रतीक धर धर के पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है । इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है ।

रा०—आप लिखते हैं—तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । इसका अर्थ सीधा २ यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उन के छहों अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है । अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें । किमधिकमित्यलम् ।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है उस को कौन शुद्ध कर सकता है, क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पङ्क्ति ३ † में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस

* विद्यावृद्धि ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ।

† शताब्दीसंस्करण पृं० ३१० पंक्ति ३ ।

उपनिषद के वचन ने आप के सीधे २ अर्थ को टेढ़ा २ कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिस का अभ्यास सब वेद करते हैं उस ब्रह्म का उपदेश तुझ से करता हूं, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं?। देखो "तमीशानं" इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद। "परीत्य भूतानि" इत्यादि और 'ईशावास्य" इत्यारभ्य "ओं खं ब्रह्म" पर्यंत मन्त्रयुक्त चालीसवां (४०) अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद। "दधन्वेवाय-दीमनुवोचद्ब्रह्मेति वेरुत्तत्" इत्यादि मन्त्र सामवेद। "सहस्रवं" इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारह मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं जिन में से थोड़े मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका के पृष्ठ ४३ पङ्क्ति ३१ से लेके पृ० ७७ पङ्क्ति ४ * की समाप्ति तक लिख रक्खा है जिसको देखना हो देख लेवे। भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि जो वेदों में परा विद्या न होती तो केन आदि उपनिषदों में कहां से आती?। मूलं नास्ति कुतः शाखाः। क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था?। क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है। जो केन आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे तो इन से भिन्न आयुर्वेद धनुर्वेद गान्धर्ववेद अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं?। जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है। भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने (यया तदक्षर-माधिगम्यते सा पराविद्यास्ति) इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है। क्या (यया) इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है?। और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है उसको कोई विपरीत भी कर सकता है, कभी नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे सम्मति कर दी

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३११ पङ्क्ति २५ से पृ० ३५२ पं० २० तक।

है वैसे साहस न करना चाहिये, किन्तु उस २ विद्या में योग्य हो के किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये ।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था फिर अब क्यों लिख के उत्तर देते हो ? ।

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूं वैसा ही निश्चित जानता हूं ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ? ।

उ०—स्वामी विशुद्धानन्दजी को । क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं । उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बैल के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है ।

प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे धरते हो सो यह न्याय की बात नहीं है ? ।

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे, न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें, और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें * ।

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान्

---

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें उसे छोड़कर विश्वासघात कर बैठें।

और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आप से शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आप को बड़ कठिन पड़ेगा ?।

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ?।

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो कैसे संवाद कर सकोगे ?।

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं। क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले, मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा, इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूं वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्रद्वारा ?।

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है। अर्थात् १ महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है। और दूर २ रहकर पत्रद्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है। परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों उसी में मैं भी प्रसन्न हूं।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?।

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्यामत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?।

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व, मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उस के स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के काग़ज़ पर लेख होकर, रजिस्टरी कराकर, एक दूसरे को अपने २ पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना २ हठ छोड़ देवें, क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?।

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और मैं इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुंचूंगा, कि जिसमें उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा। क्या यह छोटा लाभ है।

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं इसका क्या कारण है ?।

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उन को यह निश्चय होता कि हमारा मत वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो

शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते । अथवा जो और कुछ कारण हो वो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ।

## "विज्ञापनमिदम्"

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें वे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें । इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा । हां सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं । इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्य्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है । हां ऐसा निश्चय करना तो ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं । मैंने तो संवाद में केवल अनवस्थादोषपरिहारार्थ इन दोनों को प्रमुख आर्य्यावर्त्तीय पण्डितों में माना है । अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसा मानते होंगे । इस से अन्य प्रयोजन कुछ भी नहीं । सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करें कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा पाषाणादिमूर्त्तिपूजादिमंडन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूं ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले ।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मिता भ्रमोच्छेदो
ग्रन्थोऽयं पूर्त्तिमगमत्

दयानन्दसरस्वती.

शताब्दी-संस्करण

# भ्रांतिनिवारणम्

पृष्ठ ८७१—६१७.

# भ्रान्तिनिवारणम्

—:o:—

| आवृत्ति | सन् ई० | संख्या |
|---|---|---|
| प्रथम ... | १८७७ ... | १००० |
| द्वितीय ... | १८८४ ... | १००० |
| तृतीय ... | १८९१ ... | २००० |
| चतुर्थ ... | १९१२ ... | १००० |
| पंचम ... | १९१९ ... | २००० |
| शताब्दीसंस्करण | १९२४ ... | १०,००० |
| | | १७,००० |

# भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है कि जो सब प्राचीन ऋषियों की कीहुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्तमान हैं। और मेरे बनाए मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहां तहां लिख दिये हैं कि देखनेवालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रांति वा शंका मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देश भर की हानि हो। और उसको भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुए को देखकर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कार्य वा हानि को देखकर होते हैं। जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण करचुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझ को चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है। मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे। किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रंथ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों की होंगी। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े। और इतना न हुआ कि आंख

खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है। नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है। इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफ़िथ साहब सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं २ अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी। सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में ख़र्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूं। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्यापुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट होजाय कि ऐसी २ व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शंका तो मेरे बनाये ग्रंथों ही के ठीक २ मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे २ पूर्णविद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना २ छप्पर अपने २ हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम २ विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट होगया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है। उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रंथों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार कर के प्रजा को समानदृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ २ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आजतक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक २ होता तो किसी को शंका भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत मतान्तर का न होता। जैसा कि पंडित महेशचन्द्र का गुमान है यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनके भ्रान्तिनिवारण विषय में कुछ लिखा जाता है। इति ॥

**दयानन्दसरस्वती,**



ओ३म्

# भ्रान्तिनिवारण

## पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरकप्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामिदयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पं० महेशचन्द्रन्यायरत्नजी ने विरुद्ध पंडितों के साथ में अपनी राय दी है तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना ।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्संदेह प्रशंसा योग्य हैं । परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता ।

स्वामीजी—सम्मति देनेवालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे । क्योंकि पंडितजी लिखते हैं कि स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्णगुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं । तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है । और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है ।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारीविद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है । इत्यादि बातें उनका काम मट्टी करदेती हैं ।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफ़िथ साहब के उत्तर में दे चुका हूं । जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मंत्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है । क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके

मन का अभिप्राय खुल गया और उन की विद्या की थाह मिलगई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है। ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हल्दी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे कि जिस में वृथा कीर्त्ति देश में होजावे। सो पंडितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और काल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं। परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य संपूर्ण होजावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सुर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ़ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एकतरफ़ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो। नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफ़िर आदि के हैं और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलङ्करूप नाम यवनादिक की ओर से है और आर्य्य शब्द

जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं, सो कब हो सकता है। और भूषण को दूषण करके मानते हैं तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी। आगे वे लिखते हैं कि स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है। तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं। तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल है उस सब को मानता हूं, उससे विरुद्ध को नहीं, क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो २ संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क तीन* में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थ में देखना चाहिये। और वे लिखते हैं कि वेदों को भी एकतरफ़ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें। तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है। परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम † वेदो-

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३१८ से पृष्ठ ३४७ तक।

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ २६८ से।

त्पत्ति प्रकरण में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूं कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत बराबर मानते चले आये हैं। इस का ठीक २ विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू बिचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतःप्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम, बलिदान आदि का विधान है। तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उन के भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है उस सब को प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के यज्ञप्रकरण में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है सो केवल अप्रमाण है और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियां जो उन के परीक्षकों ने निकाली हैं वे इस बात को साफ़ २ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते, किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे ( उपचक्रे ) शब्द को

पाणिनि के ( गन्धनावक्षे० ) सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि ( उपचक्रे ) में आत्मनेपद लाया गया है साफ़ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप, कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है। और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि ( किया है )।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं परिडत गुरुप्रसाद आदि के तर्कखण्डन के साथ दे चुका हूं और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्य्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय अर्थात् नाम की प्रसिद्धि। भाषार्थ में जो शब्द ( किया है ) लाया गया तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और उप, कृञ्, धातु का अर्थ है ( उपकार और किया )। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक २ घट सकता है।

पं० महेश०—खैर! ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी २ दोषों पर आता हूं। मंत्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में ( अग्निमीडे पुरोहितम् ) इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द का सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है। स्वामीजि अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो २ शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं उन में

अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पत्र में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—

अग्निर्वै सर्वा देवताः * ॥ ऐ० १ । पं० १ ॥

यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीकासहित लिखता हूं।

स्वामीजी--अब पण्डितजी की ऐसी पकड़ से मालूम होगया कि उनको संस्कृत ग्रंथ समझने का बहुत ही बोध है और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे और उनको ठीक २ अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं, क्योंकि जिन २ ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदिकों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं उनको ठीक २ विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है। जैसे दखा कि—

इन्द्रं मित्रं † वरुण० । तदेवाग्निस्तदादित्य० ‡ । अग्निर्होता कविः० + । ब्रह्म ह्यग्निः । आत्मा वा अग्निः ।

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में अग्नि शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ।

और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार—

संवत्सरोऽग्निः ।

* ऐ० १ । पं० १ । अ० १ । खं० १ ।
† ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥
‡ य० ३२ । १ ॥
\+ ऋ० १ । १ । ५ ॥

इत्यादि प्रमाणों में अग्नि शब्द से ठीक २ परमेश्वर का ग्रहण होता है तथा ।

अग्निर्वै सर्वा देवताः ।

इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है । क्योंकि जहां उपास्यउपासकप्रकरण में सर्वदेवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है । इसमें मनु का प्रमाण दिया है । क्योंकिः—

यत्रोपास्यत्वेन सर्वादेवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः ।

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता । तथा निरुक्त * से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है । देखो एक तो (अग्रणीः) इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है इस में कुछ सन्देह नहीं । और दूसरा हेतु यह है कि ( इतात् ) इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है । क्योंकि 'इण गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है । ( दग्धात् ) इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा परमेश्वर नहीं । तथा ( अक्तात् और नीतात् ) इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं । क्योंकि "इण्" धातु से ऋषि की प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता तो ( अक्तात्, दग्धात्, नीतात् ) ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते । तथा जो अग्नि शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता तो पृथक् २ धातुओं को नहीं गिनते । और ( अग्निर्वै सर्वा देवताः, इति निर्वचनाय † ) इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं । जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा है उसी को अग्नि कहते हैं ।

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ‡ ॥

* अ० ७ । खं० १४ ॥ † अ० ७ । खं० १७, १८ ॥ ‡ अ० ७ । खं० १८ ।

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तरज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञानप्रकाश-युक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है उसका, और जो विद्युत्रूप गुणवाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। इसी प्रकारः—

अग्निः * पवित्रमुच्यते।

इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा ( प्रशासितारं० † ) जो सब को शिक्षा करनेवाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर ( एतमेके वदन्त्यग्निं० ‡ ) विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं। ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक २ घटते हैं। परन्तु जो पण्डितजी के घरके निराले ग्रन्थ हैं उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं तो समझना चाहिये कि जैसे निघण्टु के अ० २ खं० २२ में जो "राष्ट्री। अर्य्यः। नियुत्वान्। इनः" ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायं औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते। और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं। यह पंडितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ आवश्यक था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तारपूर्वक सिद्ध करदी है वहां देख लेना। पण्डितजी, आर० ग्रिफिथ साहब और सी०

* निघं० अ० ५। खं० ७॥

† मनु० १२। १२२॥

‡ मनु अ० १२। १२३॥

एच० टानी साहवों के पीछे २ चलते हैं । सो इसका कारण यह है कि पं०जी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है । और उक्त साहवों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अङ्गरेजी में देख लिये होंगे, उनसे क्या हो सकता है । जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें तबतक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक २ जानलेना लड़कों का खिलौना नहीं है । इसी के समान पं० जी का और कथन भी है । इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं ।

अग्निर्वै ( सर्वा देवताः ) देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः * ।

इत्यादि पर जो परिडतजी ने लिखा है सो भी अयुक्त है । क्योंकि वेद-मंत्रादि प्रमाणों को छोड़कर ( अग्निर्वै सर्वाः० ) इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पं०जी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है । सो भी पं०जी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना । क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होमक्रिया में अग्निमंत्र प्रथम और विष्णुमंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं । जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है । तथा "अग्निर्देवता०†" इस मंत्र में भी अग्नि का प्रथम और वरुण का अन्त में ग्रहण किया है । सो ऐतरेय ब्राह्म० के पं० १ अ० २ कं० १० में लिखा है कि—

त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव इत्यादि ।

तथा शतपथब्राह्मण में भी । इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१‡ में देवता शब्द से किस २ को किस २ गुण से ग्रहण करना लिखा है वहां देख लेना । तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६

* ए० ब्रा० १ । १ । १ ॥ † य० अ० १४ । मं० २० ॥
‡ शताब्दीसंस्करण पृ० ३३१ से ॥

पंक्ति ८ * में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापतियज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण करदी है । इसलिये ( अग्निर्वै० ) इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है । सो पूर्वलिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण होजायगी । तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त होजावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है । किन्तु जिस २ हेतु से जिस २ पदार्थ का नाम देव धरा है उस २ को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना । और डाक्टर एम० ( हाग ) साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं । डाक्टर एम० ( हाग ) साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके वह विना परीक्षा वा विचार के मानलेने योग्य ठहरे । क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय करलें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें जैसा कि पण्डितजी ने किया है । जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं । तथा इस कण्डिका में भी ( यज्ञस्यान्ते ) वचन में आदि में अग्निमंत्र और अन्त में विष्णुमंत्र का प्रयोग किया जाता है । फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मंत्र देवते गिने हैं । अग्नि को प्रथम जिन २ द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायुद्वारा आकाश में चढ़जाते हैं फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं उन सभों को लाभ पहुंचाते हैं । इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं ।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ़ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं किन्तु निस्सन्देह देवताविधान पाया जाता है । और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेट करना लिखा हुआ है । इस

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३६ ॥

वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है किन्तु उसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं ( यत्रोपास्यत्वेन० ) अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं ( आत्मैव देवताः सर्वाः० ) अर्थात् आत्मा सब देव है और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकता है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आंख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है उसका उत्तर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क ३ * के देवताविधानप्रकरण को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस २ गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है उसको देख लेना चाहिये, क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध करदी है। परन्तु चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है, और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में देवता संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है। और जो पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है किन्तु उस स्थान में ज़िकर भी नहीं, इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इस में पण्डितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा उस के उलटे ज्ञान होजाने का संभव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८८ के पृष्ठ से ९२ † पृष्ठ तक ब्रह्मविद्याप्रकरण की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये। ( आत्मैव

* शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३२५ से ३४९ तक॥ † शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३६६ से॥

देवताः ※ सर्वाः० ) इस का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन पालन और विनाश करने वाला है। तथा ( अग्निर्देवताः० ) इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है, क्योंकि ( सर्वमात्मन्यवस्थितम् ※ ) इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेयब्रा० के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं, क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुंचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेयब्रा० का जो प्रमाण देते हैं सो उन के कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वा० जी—अब जो पं० जी ( अग्निर्वै सर्वाः देवताः ) इस में भ्रान्त हुए हैं सो ठीक नहीं और जोः—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।

इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है इस का अर्थ ठीक २ पण्डितजी नहीं समझे हैं। इस का अभिप्राय यह है कि ( अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः )। इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् २ हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आक-

※ मनु० अ० १२। श्लो० ११९॥

र्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं, फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं, इस का नाम भाग और बलिदान है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति एतरेय ब्राह्मण में लिखी है जिसको पं० जी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध संमति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी ( अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति० ) इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है और यह अर्थ ( अग्रणीः ) शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द ( अग्र—नी ) से मिलकर बना है निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्रा० जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वा०जी—अब जो पं०जी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही संमति देता है सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मु य करके किया गया है। जैसे कि ( इतात् ) ( अक्तात् ) ( दग्धात् ) वा ( नीतात् ) इन में ( इण् ) धातु गत्यर्थक, ( अञ्जू ) व्यक्त्याद्यर्थ, ( दह ) भस्मीकरणार्थ, ( णीञ् ) प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि ( इण् ) और

(अञ्जू) इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं। और (अग्रणीः) शब्द तथा—

अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति * ।

इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर, और (न क्नोपयति न स्नेहयति) इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है। मंत्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक २ लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ को विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—(प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०)। हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें। किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वा० जी—पण्डितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं। सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं। इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है। परन्तु मैं उन से मित्रभाव से कहता हूं कि वे वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन

* निरुक्त ७। १४॥

आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी २ तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों । क्योंकि जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में धरे हैं वे क्या शतपथ के नहीं हैं ?। जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें । और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उस में का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया इस चालाकी को देखना चाहिये कि—

तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः । स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ।

इस में अन्नाद शब्द अग्नि का वाची है । और—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् * का वचन परमेश्वर के विषय में है । अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं । और अन्नाद अग्नि को कहते हैं इस से यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है । और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा । देखिये कि:—

प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः । यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति, ह इति प्रसिद्धे, स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ।

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक २ नहीं जानते और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते । पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर, लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है । इस से जो कुछ वे लिखें सो विचार-

* दशमानुवाके षष्ठे खण्डे ।

पूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वहां २ लिखे हैं उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उसको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः *।

पृथिवी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है, इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने ( अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ) इस में अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि, ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है ?। इस में पंडितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि, ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ?। और उन को विचारना चाहिये कि ( पृथिवी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम् ) इस वचन के अर्थ पर उन का अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है। जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर उन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है और न केवल चूल्हे वा वेदों में धरा हुआ। तथा पृथिवीस्थानशब्द के होने से अग्निशब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसेः—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः।

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ७ कण्डिका ७ का है कि

* निरु० ७। १४।

जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां कहीं अन्तर्य्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है जैसेः—

स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः *।

अर्थात् गौतमऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतम! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है। इतने से ही बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं।

पं० महेश०—तथा देवताविषय में उसका कैसा विचार था आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं। (यत्कामऋषिर्यस्यां० †) जिस मंत्र से जिस देवता की स्तुति कीजाती है वही उस मंत्र का देवता है। (माहाभाग्याद्देवतायाः ‡) अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उस में बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और २ देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न २ मन्त्रों के पृथक् २ देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है, देखो पृष्ठ १ पं० २। तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की। परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मंत्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं जैसेः—

* शत० ब्रा० १४। ६। ७। ७॥

† निरु० अ० ७। खं० १॥

‡ निरु० अ० ७। खं० ४॥

निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० * ॥ इत्यादि । ४ । ५ । ६ ॥

स्वामीजी—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति ॥

इसका उत्तर भूमिका अङ्क ३ के † देवताविषय में देख लेना । वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है । अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं । अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न २ देवता मानता है सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मंत्र का अग्नि देवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती । क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं । वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं । तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है । सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है । वहां देखलेना कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किसलिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है । ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना यह हिन्दुओं की बात होगी आर्यों की नहीं । हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ, ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज, अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करनेवाला है । और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले । इस में पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् ‡ का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है, क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है । तद्यथाः—

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४ ॥

† शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ३३१ से ।

‡ प्रपाठक ४ ।

यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह यः सुयुक्तोऽजस्रं चिन्तयति । तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म । स ब्रह्मणः पर एता, अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते ।

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक २ समझ लेते तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं ऐसा कभी न कह सकते । क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहां भी हैं । और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान शतपथ ब्राह्मण में अन्तर्य्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देखलेना । उसी शतपथ में पांचवें (सातवें ?) ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि ।

व्याप्यव्यापकसम्बन्ध पूर्वोक्त अलंकार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् * ।

इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनमात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह सुवर्ण खरा है तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं, इसी प्रकार जैसे कार्य्य जगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है वैसे ब्रह्म नहीं, किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है यह इस वचन का ठीक अर्थ है । क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

या वास्या अग्र्यास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य * ।

* मैत्र्युपनिषद् प्रपाठक ४ ॥

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता, इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचाबीच रहता हुआ अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है। इसके आगे भी मैत्र्युपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी ( त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः ) इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी प्रोफ़ेसर ग्रिफ़िथ टानी साहब के वकील भी हुए तथापि मुक़द्दमा में खारज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः *।

जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् २ होने से उन को कई नामों से बोलते हैं।

अथाकाराचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधकैरङ्गैः संस्तूयन्ते †।

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे स्रिक्का, वनस्पति आदि।

* निरु० अ० ७। खं० ५॥

† निरु० अ० ७। खं० ६॥

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः *।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं अग्नि, वायु और सूर्य। जिनके गुणों की व्याख्या करदी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं अर्थात् वह देवतों के पास चढ़वा पहुंचाता है तथा उन को यज्ञ में बुलाता है। ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः।

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इस का अग्नि नाम क्यों हुआ। क्योंकि वह प्रथम ही आता है। देखो (अग्निमीड़े) इत्यादि। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि. शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज़ नहीं समझा है। यह ब्रा० और निरु० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं। श्रौतसूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूं। सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ़ मालूम होता है कि (अग्निमीड़े०) यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इस के आगे पण्डितजी (तिस्र एव देवता०) इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक २ नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ मी से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ † तक देखने से ठीक २ उत्तर मिल जायगा। और इस के आकारचिन्तन से यह अभिप्राय है कि जिस २ पदार्थ में जो २ गुण होते हैं उन का यथावत् प्रकाश करना स्तुति कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में—

* निरु० अ० ७। खं० ८॥ † शताब्दीसंस्करण पृ० ३३२ से ३५४ तक।

एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति । तथाऽभिधानानि * ।

इस पंक्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचारा होगा । नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते । क्योंकि देखो—

तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति * ।

इस का अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई २ नाम लिखे हैं । तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं । उन्हीं पृथक् २ गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है । तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक, स्वयंप्रकाश, सत्य, ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं । इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है केवल एक का नहीं । और—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन ? ( साहचर्य ) अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है एक समवायसम्बन्ध दूसरा संयोगसम्बन्ध । समवाय नित्य गुणगुणी आदि में होता है और संयोगसम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है । जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्यव्यापकतादि प्रकार से है । इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता । तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुंचाना है, तथा मन्त्र

* निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुंचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त करदेना परमेश्वर का काम है। ( अग्निः पृथिवीस्थानः० ) इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और ( अग्निमीड़े ) इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है। परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है। तथा ( अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः० ) इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते * ।

इस का अर्थ यह है कि वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है। तथा जो परमेश्वर का अग्निशब्द से ग्रहण करना कहा है एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है। जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं मेरी बात की पुष्टि करते हैं वा नहीं तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं। और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं उस का भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम क्रिया करने का प्रसङ्ग है। और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् २ लिखे हैं। इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है उसको वही करे यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है। तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहां भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहां मन्त्र ही देवता

* निरु० अ० ७। खं० १७॥

हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से इस सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था। क्योंकि वहां तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—( अग्निमीडे ) इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचारपरीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र ( इन्द्रं मित्रम् ) वे उस को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बनाते हैं। खैर कुछ ही हो। परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं को नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये ( तदेवाग्नि० ) शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है ( देखो ) तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा। जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है। जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं, तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य्य, कानों से वायु और प्राण, और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है। इसके बाद स्वामीजी मंत्र का प्रमाण देवे हैं जैसे ( तदेवाग्निः० ) अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते। सिवाय इस के जो ( तदेवाग्नि० ) पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कहदे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

( अग्निर्होता कविः क्रतुः० ) स्वामीजी कवि शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित । परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है और स्वामीजी भी जब मंत्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं । कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को, अग्नि ईश्वर का नाम है, नहीं खोलता । क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं ।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं । क्योंकि मैंने अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद मंत्रों के अनेक प्रमाण मंत्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं । उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं । इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मंत्रों का अर्थ मालूम नहीं । और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं । उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता । अब विद्वान् लोग पंडितजी के लेख की परीक्षा करें । अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि ( इन्द्रं मित्रं० ) इस मंत्र में "उसको" शब्द किस के लिये आया है इत्यादि । तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है इत्यादि । सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं । इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो वार है । एक—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः * ॥ अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः * ॥

इस का अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है । अर्थात् भौतिक और परमेश्वर । तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं । अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् ।

* ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मन्त्र ४६ ॥

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सब का निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते * ।

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा-( इममेवाग्निं० * ) इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है। इस मंत्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था। तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते और उन प्रमाण मंत्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार २ यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं वैसे ही ( तदेवाग्नि० )। जो इस में तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं जाना है। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एकरस रहता है। अर्थात् जब २ जगत् हुआ था, है और होगा तब २ वहः—

तदक्षरे परमे व्योमन् ।

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकिः—

येनावृतं खं च दिवं महीं च० ।

* नि० अ० ७। खं० १८॥

इत्यादि जिसने आकाश सूर्य्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्।

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

अतः परं नान्यदणीयमस्ति।

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से पर, एक, अद्वितीय, अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

तदेवावर्त्तदुसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है। वही सत्य, वही ब्रह्म, तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है। और ( तदेवाग्नि० ) अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे * इत्यादि।

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति †।

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता। अर्थात् कोई उस को आंख से नहीं देख सकता। किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। तथा जिस अनुवाक का पंडितजी ने नाम लिखा है उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उन की समझ में ठीक २ नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर

* य० अ० ३२। मं० २॥  † कठोप० वल्ली ६। मं० ६॥

के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं। किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा गौ और खटमल आदि निकले हैं इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है। यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक २ न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो अद्वैतशब्द परमेश्वर का विशेषण है कि जैसे एक २ मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ९० की पंक्ति २२ * में मिलता है। जैसे—

न द्वितीयो न तृतीयः † ।

इत्यादि में देख लेना। तथा—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ‡ ।

इत्यादि मंत्रों का अर्थ भूमिका अंक ५ के ११८ पृष्ठ में (सहस्रशीर्षा) इत्यादि की व्याख्या से लेकर अंक ६ के १३४ पृष्ठ + की समाप्ति पर्य्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—

अग्निर्होता कविः क्रतुः ।

इस के अर्थ विषय में जो पंडितजी को शंका हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मंत्र का अर्थ वेदभाष्य के अंक १ पृष्ठ १६ में देख लेना। (क्रतुः) सब जगत् का करने वाला, (सत्यश्चित्रश्रवस्तमः) इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३६६ पंक्ति १६॥ † अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० १६॥
‡ य० अ० ३१। मं० २॥ + शताब्दीसंस्करण पृ० ४०३ से ४२५ तक॥

है। और जब इस प्रकार की ठीक २ विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता। तथा निघं० अ० ३। खं० १५ में मेधावी का नाम कवि लिखा है सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८।

सपर्य्यगाच्छुक्र०।

इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक २ सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—( ब्रह्म ह्यग्निः ) जो कि आगे की संस्कृत में आता है। जैसे—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥

इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुंचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २। इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

आत्मा वा अग्निः।

यह श० कां० ७। अ० ३। ब्रा० १। कं० २ के अगले प्रमाण में आया है जैसे—

यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा व अग्निः। प्राणः सोमः। आत्मँस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति।

अर्थात् बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है। तथा प्राण नाम सोम का है। और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं। यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलंकाररूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे। किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं वे बराबर होमादि का विधान करते हैं और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं। ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पंचवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके सब वस्तु ब्रह्म है। इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होनी। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय ( अग्निरिवाग्निना पिहितः ) ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो ( अग्निरिव ) से उत्पन्न होता है साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्रा० और शत० ब्राह्म० के हैं जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो २ प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवे। ( ब्रह्म ह्यग्निः ) इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं। क्योंकि वहां ( सर्वं खल्विदं ब्रह्म ) यह नियम कहीं नहीं लिखा।

ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति । भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति ।

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे । क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप ( महान् ) सब से बड़े हैं और बड़े होने से ब्राह्मण तथा सब प्रजा को धारण करने से भारत कहाते हैं । और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं इसलिये भी आप का नाम भारत है । इस कण्डिका के अर्थ से य ावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं । आर जो—

आत्मा वा अग्निः ।

इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है इससे दोष नहीं आ सकता, यही मेरा अभिप्राय है । इसको पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे और—

तस्मादयमात्मन् प्राण० मध्यतः ।

इसका यह अर्थ है कि ( अयम् ) यह होम करनेवाला वा परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्य्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है । क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं । इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है । परन्तु—

स उ प्राणस्य प्राणः *।

इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है । और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है । क्योंकि उस प्रकरण

* केनो० खं० २ । मं० २ ॥

में वैसे ही अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है । सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है । परमेश्वर का नाम सोम है सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है । और जहां २ से प्रमाण लिखे हैं वहां २ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है । परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है । यह केवल उनका आग्रह है । इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका । और—

प्राणो अग्निः परमात्मेति ।

यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है । प्राण, अग्नि, परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं । तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं । और सब वस्तु ब्रह्म है इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं । पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जानकर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं । इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं । उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता । क्योंकि ( पञ्चवायुः ) इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है । इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है । क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो ( पञ्चवायुः ) परमेश्वर कहाता है । और इस प्रकरण में ( विश्वभुक् ) आदि शब्द भी हैं इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं ।

य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः । एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम् ।

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है । जिस को सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों

को अभयदान दे के, विषयों में इन्द्रियों को रोक के, एकान्त देश में समाधिस्थ होकर, इसी मनुष्य-शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है। और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप, एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला, असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है, उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार से—

उपलभेतैनमिति।

मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है यह मैं भी जानता और मानता हूं। परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा यह बड़ा आश्चर्य है।

पं० महेश०—( अग्निः पवित्रमुच्यते ) पवित्र शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूं कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिंदू-धर्म का बयान करता है स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो, परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में

स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता हैं, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं, कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण, और कोई २ उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः *। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् †। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ‡।

अब देखना चाहिये कि ये सब मंत्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—( अग्निः पवित्रमुच्यते ) इसका उत्तर हम देचुके। और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है। परन्तु पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा।

प्रशासितारं सर्वेषां०।

इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति—

एतमेके वदन्त्यग्निम्०।

इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—

अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।

* मनु० अ० १२। श्लो० ११८॥ † मनु० अ० १२। श्लो० ११९॥
‡ मनु० अ० १२। श्लो० १२३॥

इस वचन से भी ठीक २ निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं । इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य्य की बात है । और—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ १ ॥ आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ २ ॥ एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ ३ ॥

इन श्लोकों से पण्डितजी ने देखा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है यह पण्डितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है । क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते । ( समाहितः ) इस पद को अशुद्ध करके ( समाहितम् ) यह पण्डितजी ने लिखा है । जो सावधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥ आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला और जिस में सब जगत् स्थित है वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥ इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है । वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर बिना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं वे सब मिथ्या हैं । क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे ।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव ! तुम इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूं । विस

पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं। अब (अग्निमीडे०) पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता, तथा हरएक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को डुधाञ् धातु से बनाते हैं जिससे आगे क्त है। इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं:—

पुरोहितः पुर एनन्दधाति० *।

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस हित शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं। स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें। परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है उस के प्रमाण उसी मंत्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा पुरोहित शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है सो भी वहां देखने से ठीक २ मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी पुरोहित शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं। यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत। अर्थात् किसी ने किसी

* निरु० अ० २। खं० १२॥

से प्रयाग का मार्ग पूछा उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है। पुरोहित शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च॥ अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू०७१॥

इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ-विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्या-सत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के ज्ञान न होने से उस की भक्ति होना ये सब परस्पर असम्भव हैं। निरुक्त-कार ने भी पुरोहित शब्द में डुधाञ् धातु से कर्त्ता में क्त प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहां अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमे-श्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

विश्वास्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः॥ ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३॥

यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है। और जो पंडितजी (यद्देवापि०*) इस मंत्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उन-को इस मंत्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है उसका भी ठीक २ अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने शन्तनु शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है। जो शंतनु शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है उस की खबर भी नहीं है।

शन्तनुः शंतनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति * वा।

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर शन्तनु कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को

* निरु० अ० २। खं० १२॥

प्राप्त होता है इसलिये उस जीव का नाम भी शंतनु है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है ॥ ११ ॥

अब यज्ञ शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यंत्रालय का दोष है। ( यज्ञस्य ) यह शैषिकी षष्ठी है। पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार * भी वैसा ही अर्थ लेते हैं। क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है। और जो गो शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो देव शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहां से वा कैसे लिये हैं इस का उत्तर यह है कि दिवु का धात्वर्थ विजिगीषा भी है, और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं उन का जीतनेवाला वही परमेश्वर है, क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है ॥

## पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च † ।

इस के अर्थ में पंडितजी की बहुत भूल है। क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या करदी है और पण्डितजी कहते हैं कि निरुक्त के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में यज्ञ शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है सो झूंठ है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है सिद्धि कुछ भी नहीं। और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १९ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता यह बात पंडितजी की भ्रांतियुक्त

* अ० ३। खं० १९ ॥ † निरु० अ० ७। खं० १५ ॥

है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है। इस के साथ उनको मिलाकर देखो। और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि देव शब्द के अर्थ देनेवाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्दविषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ * पंक्ति से देखलेना चाहिये। निरुक्तकार—

यो देवः सा देवता० † ।

इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं उन को पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं इस में पंडितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजं०, होतारम् और रत्नधातमं' शब्दों के कई २ अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्यदेवं', शब्दों में सिद्ध कर चुका हूं इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी ( ऋत्विजं ) का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय। परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् [illegible]ट करनेवाले के हैं और न कि जिस को भेट चढ़ाई जाय, यह बात भी नि[illegible] की साक्षी से सिद्ध है कि जिसका स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी ऋत्विज् शब्द पर लेख करते हैं सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

कृल्ल्युटो बहुलम्।

इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे। क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में

* शताब्दीसंस्करण पृ० ३३९ पंक्ति २२ से ॥

† निरु० अ० ७। खं० १५ ॥

प्रयुक्त हों। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है। परन्तु पंडितजी ऋत्विज् शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०-स्वामीजी ( होतारं ) शब्द के जो कई अर्थ करते हैं उन में से एक ( आधातारं ) अर्थात् ग्रहण करनेवाले के हैं। यह भिन्न पद है कि जिन से यह अर्थ लिये जाते हैं। ( होतारं ) जो ( हु ) से बनता है जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से ( अदन ) होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं, जैसे—

हु दानादनयोरादाने चेत्येके।

( हु ) धातु के अर्थ दान, अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना। अदन का अर्थ ग्रहण का आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—

अत्ता चराचरग्रहणात

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है। और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है उस के अर्थ आदान के नहीं हो सकते। किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं। नहीं तो उक्त नियम के अनुसार ( आदाने चेत्येके ) कैसे बन सकता। किसी के मत में हु धातु का अर्थ भी आदान होता है। इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है। इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध करसकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना। फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता। तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने (हु) धातु से अर्थ लेने की

अनेक युक्तियां घूम २ कीं परन्तु न मालूम स्वामीजी (होतारं) शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों होगये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता। अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिस को पढ़नेवाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब होता शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूं। पण्डितजी को यह शंका हुई है कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा। परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शंका न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा, इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने। क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिये इस शंका का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता। और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है सो भी पं० जी की समझ उलटी है। क्योंकि जब ( हु ) धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो तब यह दोष ( देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः ) ऐसे वाक्य में ( अदन ) शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने ( हु ) धातु तीन अर्थों में लिखा है। ( आदाने चेत्येके ) इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में ( हु ) धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है। और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे। परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक २ मेरा अभिप्राय मिलता और

मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पंडितजी की नहीं। इसी प्रकार वेदांत का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी की कुछ भी नहीं। क्योंकि (अत्ता) शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्तसूत्रकार का अभिप्राय है। (आदान) शब्द के अर्थ के लिये नहीं। क्योंकि आदान शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना (अत्ता) शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि पंडितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुतसे यत्न करते हैं परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है। इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेज़ी में जो वेदों पर मूलार्थविरुद्ध उलटे तरजुमे हैं उनके सिवाय, ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हां मैं कह सकता हूं कि:—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाः॥

चोर कोटपाल को दण्डे। अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं वे ऐसे दृष्टांत के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य राजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला २ फिरे वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं क्या इस पत्र को जो २ बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खंडबंड दशा को न जान लेंगे। परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूं कि ग्रिफिथ साहेब आदि अंग्रेज़, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी संमुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मंत्र का भी अर्थ ठीक २ नहीं आता। यह बात सब को विदित होजावे

मैं चाहता हूं कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक २ विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है और कौन नहीं । क्योंकिः—

विद्यादम्भः क्षणस्थायी

सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात् ॥ संवत् १९३४ कार्तिक शुक्ला २ ॥

शताब्दी-संस्करण

# गोकरुणानिधिः

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के सुख के लिये अनेक सत्पुरुषों की सम्मति के अनुसार आर्यभाषा में बनाया,

इसके अनुसार वर्तमान करने से संसार का बड़ा उपकार है

पृष्ठ ६१६-६४५.

# गोकरुणानिधिः

—:o:—

| आवृत्ति | | सन् ई० | | संख्या |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | ... | १८८० | ... | १००० |
| द्वितीय | ... | १८८२ | ... | १००० |
| तृतीय | ... | १८८६ | ... | २००० |
| चतुर्थ | ... | १८९७ | ... | १००० |
| पंचम | ... | | ... | १००० |
| षष्ठ | ... | १९०३ | ... | २००० |
| सप्तम | ... | १९०९ | ... | २००० |
| अष्टम | ... | १९१३ | ... | २००० |
| नवम | ... | १९१५ | ... | ५००० |
| दशम | ... | १९२१ | ... | ५००० |
| एकादश | ... | १९२४ | ... | २००० |
| शताब्दीसंस्करण | | १९२४ | ... | १०,००० |
| | | | | ३४,००० |

ओ३म्

नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय

# गोकरुणानिधिः

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम् ॥१॥
ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता न यन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥२॥

## भूमिका

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुंचाते हैं। और शोक है उन पर जो कि इन से विरुद्ध, स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं। और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रह कर सब के सुखों का नाश करते हैं। ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो ? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे वह दुःख और सुख का अनुभव न करे ?। जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है तो विना अपराध

किसी प्राणी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे ? । सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें, और स्वार्थपन से पक्षपात-युक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें । इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उस को बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें । धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं । यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है जिससे गो आदि पशु जहांतक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे । परमात्मा कृपा करें कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम । इन को ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनों के लिये सुख बढ़ता ही रहे ।

इति भूमिका



# अथ समीक्षा-प्रकरणम्

## गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम गोकृष्यादिरक्षिणी इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इस के विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते। सर्वशक्तिमान जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो २ पदार्थ बनाये हैं वे निष्प्रयोजन नहीं। किन्तु एक २ वस्तु अनेक २ प्रयोजन के लिये रची है। इसलिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है इससे वही कार्य्य लेना सब को उचित होता है। न कि इससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन २ प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो २ पदार्थ बनाये हैं उन २ से वे २ प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है ?। पक्षपात छोड़कर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्म्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं ?। जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो २ विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ (सवा आठ) मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है। तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ (निन्नानवे) मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रतिसेर में छटांक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डाल कर खीर बना

खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है। अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायगा और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० (एक हजार, नवसौ, अस्सी) मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार व्याती है। इसका मध्यभाग तेरह वार आया। तो २५७४० (पच्चीस हजार, सातसौ, चालिस) मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक वार तृप्त हो सकते हैं। इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए। इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० (एक लाख, चौवन हजार, चारसौ, चालिस) मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल। उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २००ऽ (दो सौ) मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ (छः सौ) मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं। और उनके कार्य्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ (चार हजार आठसौ) मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है। ( ४८०० ) इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६००० (दो लाख, छप्पन हजार) मनुष्यों का एक वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० (चार लाख, दश हजार, चारसौ चालीस) मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी पर-पीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। देखो तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?।

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं।

क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्य्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है तो भी इन का दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुंचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है। इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है। तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।S (सवा दो मन) और चार मास में ९S (नव मन) होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से एकसौ अस्सी (१८०) मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार व्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष म एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० (तीन सौ साठ) मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ (आठ) वर्ष तक व्याती है। इसका मध्यभाग ६ (छः) वर्ष हुआ। तो जन्मभर के दूध से २१६० (दो हजार, एकसौ, साठ) मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है। अब उस के बच्चा बच्ची मध्यभाग से २४ (चौबीस) हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से व्याती है। उन में से दो का अल्पमृत्यु समझो। रहे २२ (बाईस)। उन में से १२ बकरियों के दूध से २५९२० (पच्चीस हजार, नवसौ, बीस) मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन होसकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और बकरा बकरी और मेढा भेड़ी के रोम और ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े २ सुखलाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है तथापि बकरी के दूध से उस के दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी

प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं। जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं वैसे ही घोड़े घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं। परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्त्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है। एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। देखिये जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी आदि में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभगुणयुक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काट कर, जो अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापी जन होंगे ? । इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि (अघ्न्याः+यजमानस्य पशून् पाहि*) हे पुरुष ! तू इन

* य० अ० १। मं० १॥

पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिन से तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसी-लिये ब्रह्मा से लेके आज पर्य्यन्त आर्य्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इनकी रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सब को सुख बढ़ता है।

इन से यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्य्यों की भी घटती होती है। देखो इसी से, जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० (सातसौ) वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० (सातसौ) वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते। तो ( नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम् )। जब कारण का नाश करदे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे?। हे मांसाहारियो! तुम लोग, जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब, मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं?। हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता?। क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है?। क्या उन के लिये तेरी न्यायसभा बन्द होगई है?। क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उन की पुकार नहीं सुनता?। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता?। जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

## अथ समीक्षायां हिंसकरक्षकसंवादः

हिंसक—ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्यों के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई ! सुनो तुम्हारे शरीर का जिस ईश्वर ने बनाया है क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं ?। जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुम को उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है वैसे ही सिंह गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस पर चलता है। तो उनके लिये तुम क्यों नहीं ?।

हिं०—देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

र०—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो ?। देखो, तुम्हारी मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उन के चार, तुम विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो तो बंदर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते ?। देखो बंदरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुत सी मिलती है। जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०—देखो जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक या दो को मारता और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है, और जब जङ्गली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली, बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता। और सिंह उनसे डर के अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता। और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो एक मांसाहारी का, एक दूध घी और अन्नाहारी के मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस २ के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उस के खाने से ?। मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय, अधर्म और दुष्ट कर्म्म क्यों नहीं ?।

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में, अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है वहां मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है। इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०-जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायं कि पृथिवी पर भी न समावें। और इसलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिये ?।

र०-वाह ! वाह ! यह बुद्धि का विपर्य्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता पुनः क्यों न बढ़ गये। और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०-ये जितने उत्तर किये वे सब व्यवहारसम्बन्धी हैं। परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म्म तो नहीं होता। और जो होता है तो तुम को होता होगा क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावें क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म्म नहीं है।

र०-हम तुम से पूछते हैं कि धर्म्म और अधर्म्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र ?। तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्म्माधर्म्म होते हैं। जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह २ अधर्म्म और जिस २ व्यवहार से उपकार हो वह २ धर्म्म कहाता है। तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म्म क्यों नहीं मानते ?। देखो चोरी जारी आदि कर्म्म इसीलिये अधर्म्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो २ प्रयोजन धनादि से उन के स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि जो २ कर्म्म जगत् में हानिकारक हैं वे २ अधर्म और जो २ परोपकारक हैं वे २ धर्म कहाते हैं। जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?। देखो मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं।

जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है तभी उस की इच्छा होती है कि इस में मांस अधिक है मारकर खाऊं तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

हिं०—अच्छा जो यही बात है तो जबतक पशु काम में आवें तबतक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े होजावें वा मर जावें तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

र०—जैसे दोष उपकार करने वाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में हैं। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने वालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है उन का मांस खाना वा नहीं?।

र०—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो सौ (१००) भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं उन से अधिक एक सुअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उन से भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। भला जिनके दूध आदि

खाने पीने में आते हैं वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ?। ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने पीने के पदार्थों से भी पशु और पक्षियों के खाने पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक रचे हैं। और वे विना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होवे हैं और वहां वृष्टि भी करता है। इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं किन्तु रक्षा करने में है।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावें उन को पाप होता है और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया, वाममार्ग, अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें तो उन को पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

र०—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट, लाभ और बिक्री न हो तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे। इस में प्रमाण भी है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

(मनु० अ० ५। श्लो० ५१)

अर्थ—अनुमति (मारने की सलाह) देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खानेवाले ८ (आठ) मनुष्य, घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं। और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना, मारना वा मरवाना महापापकर्म्म है। इसीलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी। मद्य भी मांस खाने का ही कारण है इसीलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं:—

प्रमत्त—कहोजी मांस तो छूटा सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं ? ।

शान्त–मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं जैसे कि मांस खाने में । मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है । न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है । और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है । इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं । और जो मद्य पीता है वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर, उन दोषों में फंस कर, अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़, पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्म्मों में प्रवृत्त होकर, अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है । इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिये । जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं । इसलिये इनका भी सेवन कभी न करे । क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं । इसीलिये मद्यपान के समान इन का भी सर्वथा निषेध ही है ।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? । हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं, कि देखो ! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते । देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिये पुकारते हैं कि हम को आप लोग बचावें । हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते । नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा

देते ? । हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हम को बचाने में उद्यत नहीं होता । और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं । अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो । क्योंकि ( स्वार्थी दोषं न पश्यति ) जो स्वार्थ साधने में तत्पर है वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों की हानि हो तो हो मुझ को सुख होना चाहिये । परन्तु जो उपकारी हैं वे इन के बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें । जैसा कि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म्म करते आये हैं वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है ।

धन्य है आर्य्यावर्त्तदेशवासी आर्य्य लोगों को, कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन मन धन लगाया और लगाते हैं । इसीलिये आर्य्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जङ्गल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों । जिनके खाने पीने से आरोग्य, बुद्धिबल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें । और वृक्षों के अधिक होने से वर्षाजल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है । पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है । परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना, और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर, रोगों की वृद्धि करके, संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उलटे हैं । ( विषादप्यमृतंग्राह्यम् ) सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना । इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़कर उन से उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना । अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सब को होना चाहिये । सुनो बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है ? । देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के

लिय रच रक्खे हैं वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के अर्पण करो। बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्याय-पुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे।

श्रीमती राजराजेश्वरी श्रीविक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो २ दुःख दिया जाता है वह २ न दिया जावे। तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ?। क्या फांसी से अधिक दुःख बंदीगृह में होता है ?। जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बंदीघर के रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में। और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहां से दूर किया जावे तो क्या वह सुख मानेगा ?। ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जङ्गल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें तो बेचारे उन पशुओं और उन के स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीन कर न खाने देवें और उनकी दुर्दशा की जावे तो इन को दुःख विदित न होगा क्या ?। क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उन के स्वामियों को न होता होगा ?। ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है। इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उन का नाश किया जावे। इसलिये आजतक जो हुआ

सो हुआ, आगे आंखें खोल कर सब के हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हां, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे, कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़, सर्वोपकारक कर्मों को करके, सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना। इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर ! जो इनको कोई न बचावे तो आप इन की रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये।

इति समीक्षा–प्रकरणम्

## इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुंचाना इस सभा का मुख्य उद्देश है। किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो २ पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस २ प्रकार से अधिक उपकार में आवे उस २ से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस २ कर्म्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो उस २ को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो २ मनुष्य इस परमहितकारी कार्य्य में तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे वह २ इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५ जो कि यह कार्य्य सर्वहितकारी है इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो २ सभा, देश–देशान्तर और द्वीप–द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है वह २ इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो २ जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म्म करे वह २ इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

## उपनियम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

## उद्देश

२—इस सभा के उद्देश वे ही हैं जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें * और इसके उद्देशानुकूल आचरण करना चाहें, वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों वे गोरक्षकसभासद् कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो, और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे गोरक्षकसभासद् हो सकते हैं, और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणीसभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार, बड़े २ साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एकवार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(ज) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले पुरुष को भी गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो गोरक्षक सभासद् नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है:—

* इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देशानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये। परन्तु अन्तरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे।

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो ।

(२) जब कि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे ।

(३) जो इस सभा के उद्देश के विरुद्ध कर्म्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा ।

(४) गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे-एक साधारण और दूसरे माननीय । माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश १०) रु० मासिक वा इससे अधिक देवें, अथवा एक वार २५०) रुपया दें वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे ।

५—यह सभा दो प्रकार की होगी-एक साधारण दूसरी अन्तरङ्ग ।

६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी-१ मासिक, २ षाण्मासिक और ३ नैमित्तिक ।

७—मासिक सभा—प्रतिमास एक वार हुआ करेगी । उसमें महीने भर का आयव्यय और सभा के कार्य्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथनयोग्य हो ।

८—षाण्मासिक सभा-कार्त्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे । उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य प्रत्येक प्रकार का आयव्यय समझना और समझाना होवे ।

९—नैमित्तिक सभा-जब कभी मन्त्री, धा और अन्तरंगसभा आवश्यक कार्य्य जाने उसी समय यह सभा हो और इस में विशेष कार्य्यों का प्रबन्ध होवे ।

१०—अन्तरंगसभा—सभा के समस्त कार्य्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरंगसभा नियत कीजावे। और इस में तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

११—प्रतिनिधि सभासद् अपने २ समुदायों के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे, कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है। प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य्य ये होंगेः—

(अ) अपने २ समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने २ समुदायों को अन्तरंगसभा के कार्य्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने २ समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१२—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंगसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरंगसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें। और कोई पुराना प्रतिष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो तो अन्तरंगसभा आप ही उस के स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५—अन्तरंगसभा कार्य्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६—अन्तरंगसभा किसी विशेष कार्य्य के करने और सोचने के लिये अपने

में से सभासदों और विशेष गुण रखनेवाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है ।

१७—अन्तरंगसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे । परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा ।

१८—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है ।

१९—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१–प्रधान, २–उपप्रधान, ३–मन्त्री, ४–उपमन्त्री, ५–कोषाध्यक्ष, ६–पुस्तकाध्यक्ष ।

( मन्त्री ) ( कोषाध्यक्ष ) ( पुस्तकाध्यक्ष ) इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक भी नियत हों तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य्य बांट देवे ।

## प्रधान

२०—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें:—

१—( प्रधान ) अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे ।

२—सदा सभा के सब कार्य्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे । सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चले ।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित प्रबन्ध तत्काल करे और उसकी हानि में वही उत्तर देवे ।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है ।

## उपप्रधान

२१—इस के ये कार्य्य कर्तव्य हैं—प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे, यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उस का मुख्य कार्य है ।

## मन्त्री

२२—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं:—

१—अन्तरङ्गसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्रव्यवहार रखना ।

२—सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही पूर्व-वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना ।

३ मासिक अन्तरङ्गसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुए हों ।

४—सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना ।

५—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक सभासद् किसी न किसी समुदाय में हों और इसका भी कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्गसभा में प्रतिनिधि दिया होवे ।

६—पहिले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना ।

७—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना ।

## कोषाध्यक्ष

२३—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं:—

१—सभा के सब आयधन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना ।

२—किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना, किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे जितना अन्तरङ्गसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना, और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिस के द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे ।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बही खाता रखना और प्रतिमास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बही खाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना ।

## पुस्तकाध्यक्ष

२४—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें:—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तकें हों उन सबों की रक्षा कर और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने देने का कार्य भी करे ।

## मिश्रित नियम

२५—सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में लीजावे:—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

३—जब बहुतसे व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जानना चाहे।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो तो उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरङ्गसभा नियत कर सकती है।

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे तो जबतक उस के स्थान पर नियत न किया जाय वही अधिकारी अपना काम करता रहे।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं।

२९—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों।

३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे।

३२—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें ।

३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें, और आनन्दोत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें ।

३५—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ, वा किसी की स्त्री विधवा, अथवा सन्तान अनाथ होजावे अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले तो यह सभा उन की रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे ।

३६—यदि गोरक्षक सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो तो उन को उचित है कि वे आपस में समझ लेवें वा गोरक्षक सभासदों की न्याय-उपसभाद्वारा उसका न्याय करालें । परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें ।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना २ लाभ हो वह २ सर्वहितकारी काम में लगाया जावे, किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य्य में व्यय न किया जावे । और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है उसको चोरी से अपहरण करेगा वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा ।

३८—संप्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जंगल और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे, पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य्य में भी व्यय किया जावे ।

३९—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ-

दृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें।

४०--इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सब का हित सिद्ध होना सम्भव नहीं।

४१—देखिये पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुंचाना और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है ऐसे निकृष्ट कर्म्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उन २ का दूध एक मास तक उनके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिलादेना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तबतक दिया करें कि जबतक गौ दूध देवे।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब २ किसी को स्वरक्षित पशु देवे तब २ न्याय नियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर, जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उस के काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अन्तरंगसभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इस में स्वाधीनता कभी न देवे।

४५—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य्य है इसलिये इस का करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है ।

४६—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देशों को किये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता ।

४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत दूसरे प्राणियों का सुख दुःख अपने आत्मा में न समझता हो ।

४८—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं ।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

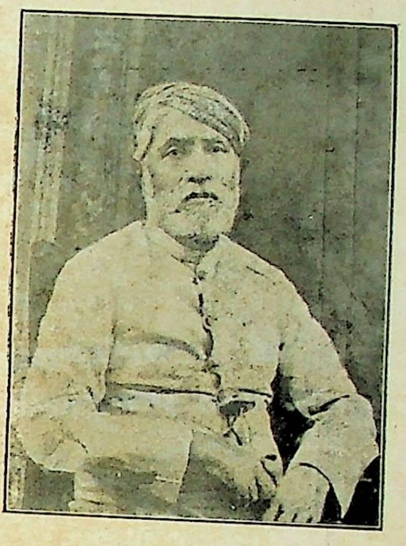
धेनुः परा दयापूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते ।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः ॥ १ ॥
मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले ।
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोयं कामधेनुपः ॥ २ ॥

इति गोकरुणानिधिः

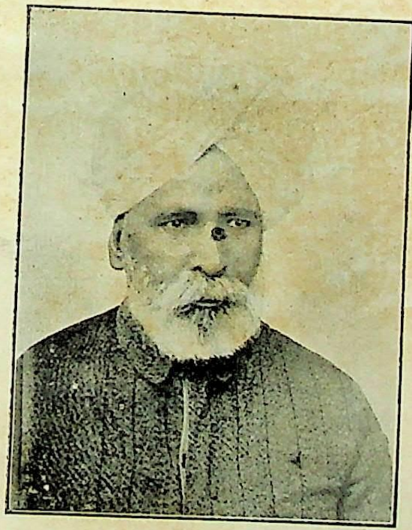




श्रीमान् हिज हाइनेस महाराजाधिराज
सियाजीराव बहादुर गायकवाड़, बड़ौदा,
सभापति



श्रीमान् राजाधिराज सर नाहरसिंहजी
बहादुर शाहपुरा
मंत्री

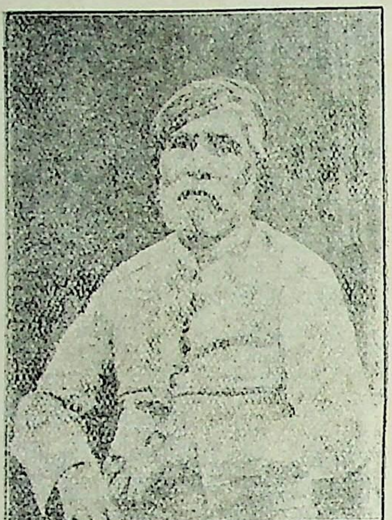


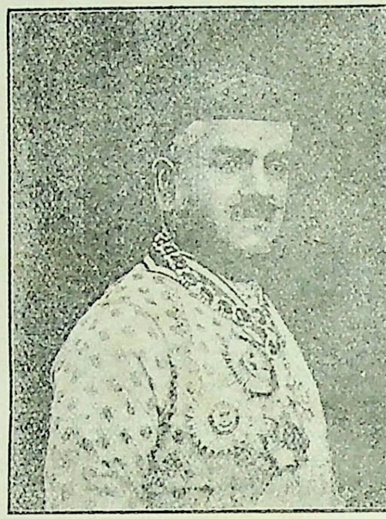
रायबहादुर श्री मूलराजजी
उपप्रधान



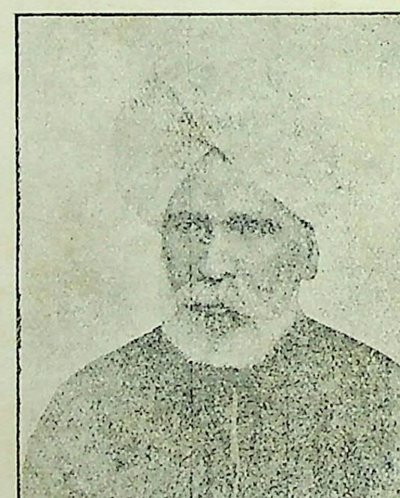
रायसाहेब श्री हरविलासजी सारडा, M. L. A.
मंत्री

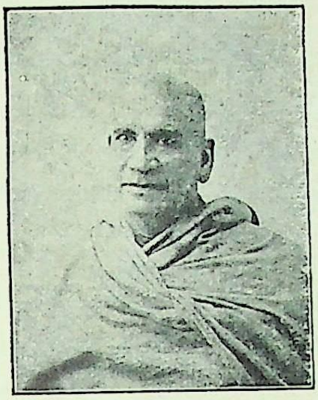
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.



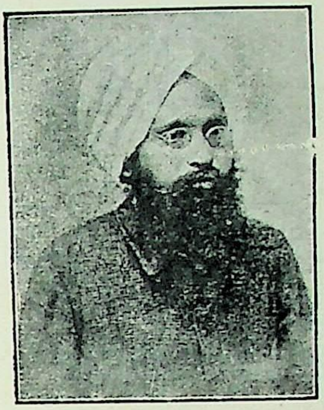




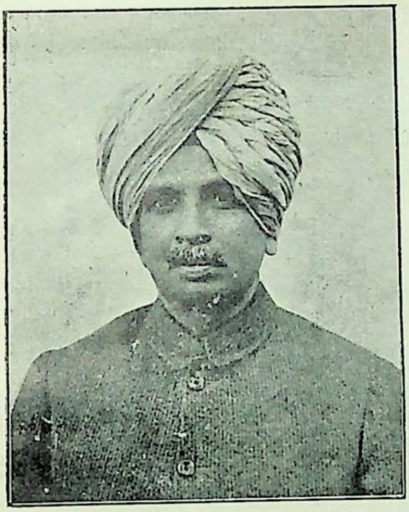




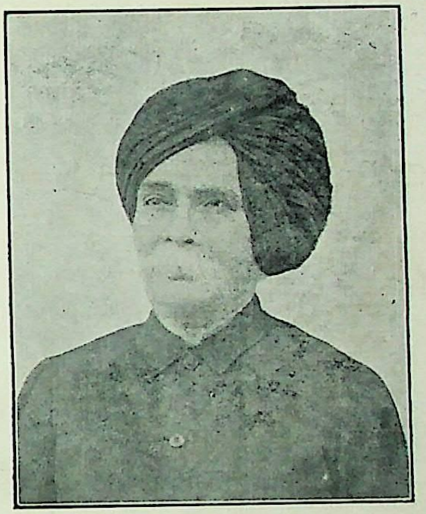
श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी



श्रीयुत लाला हंसराजजी



श्रीयुत बा० गुलराजगोपालजी गुप्त



रायसाहेब रामबिलासजी शारदा



श्रीयुत बा० गंगाप्रसादजी वर्मा



श्रीयुत लाजपतरायजी

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.



श्रीमान् महाराणा साहब श्री सज्जनसिंहजी



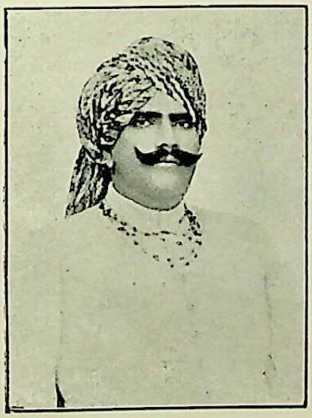
श्रीमान् जनरल महाराजा प्रतापसिंहजी



श्री शाहू छत्रपतिजी महाराज



श्री राजाराम छत्रपतिजी महाराज



श्री ठाकुर नरेंद्रसिंहजी



श्रीमान् राजकुमार उम्मेदसिंहजी

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.



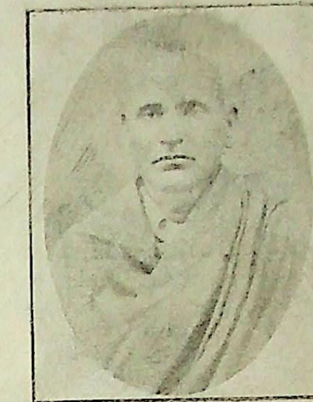
श्रीयुत घासीरामजी



श्रीयुत रामदेवजी



श्रीयुत रणछोड़दासजी भवान



श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी



श्रीयुत भगवद्दत्तजी



श्रीयुत रामगोपालजी



श्रीयुत रोशनलालजी



श्रीयुत गौरीशङ्करजी

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.



श्रीयुत राव बहादुरसिंहजी



श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी



श्रीयुत बंशीधरजी



श्रीयुत सेठ पुरुषोत्तमनारायणजी



श्रीयुत भगवानदीनजी



श्रीयुत रामभजदत्तजी चौधरी

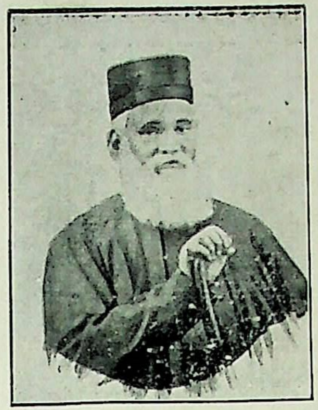
वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.



श्रीयुत साईंदासजी



श्रीयुत रामदुलारेजी बाजपेयी



श्रीयुत सुन्दरलालजी



श्रीयुत मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या



श्रीयुत महादेव गोविन्दजी रानड़े



श्रीयुत दुर्गाप्रसादजी



श्रीयुत सेठ निर्भयरामजी



श्रीयुत पद्मचन्दजी

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर.

शताब्दी-संस्करण

# स्वीकारपत्रम्

पृष्ठ ६४७—६५२.

# स्वीकारपत्रम्

—:o:—

| आवृत्ति | सन् ई० | संख्या |
|---|---|---|
| प्रथम ... | ... | १००० |
| द्वितीय ... | १८९३ ... | १००० |
| तृतीय ... | १८९७ ... | १००० |
| चतुर्थ ... | १९०३ ... | २००० |
| पंचम ... | १९२१ ... | २००० |
| शताब्दीसंस्करण | १९२४ ... | १०,००० |
| | | १७,००० |

श्रीरामजी

## परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृत स्वीकारपत्र की प्रति

राजकीय मुद्रा

आज्ञा ( राज्ये श्रीमहद्राजसभा ) संख्या २६०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्रीजी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमानराज्ये श्रीमहद्राजसभा के सन्मुख स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया अत एवः—

आज्ञा हुई—

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी को राज्ये श्री महद्राजसभा के हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक एक प्रति इसकी राज यन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में लिखे सब सभासदों के पास उन के ज्ञानार्थ और इसके नियमानुसार वर्त्तने के लिये भेजी जावे संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५ मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुएरी सन् १८८३ ई० ।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य

( श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति )

राज्ये श्रीमद्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर—

१ राव तख्तसिंह वेदले
२ राव रत्नसिंह पारसोली
३ द० महाराज गजसिंह का
४ द० महाराज रायसिंह का
५ हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६ दं० राणावत उदयसिंह
७ हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८ हस्ताक्षर कविराज श्यामलदासस्य
९ हस्ताक्षर सहीवाला अर्ज्जुनसिंह का
१० दं० रा० पन्नालाल
११ ह० पुरोहित पद्मनाभस्य
१२ जा० मुकुन्दलाल
१३ ह० मोहनलाल पण्ड्या

## स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्य्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उस को परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अधिष्ठाता करके यह पत्र लिखे देता हूं कि समय पर कार्यकारी हो। जो यह एक सभा कि जिसका नाम परोपकारिणीसभा है उस के निम्नलिखित त्रयोविंशति सज्जन पुरुष सभासद् हैं उन में से इस सभा के सभापतिः—

१ श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्यकुलदिवाकर महाराणाजी श्री १०८ श्रीसज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़।

२ उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० एकूस्ट्रा एसिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर जन्मस्थान लुधियाना।

३ मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर राज मेवाड़।

४ मन्त्री लाला रामशरणदास रईस उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ।

५ उपमन्त्री पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी निवास उदयपुर जन्मभूमि मथुरा।

## सभासद्

### नाम और स्थान

१ श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा शाहपुरा राज मेवाड़

२ श्रीमत् राव तख्तसिंहजी वर्म्मा बेदला राज मेवाड़

३ श्रीमत् राज्यराणा श्रीफतहसिंहजी वर्म्मा देलवाड़ा राज मेवाड़

४ श्रीमत् रावत अर्जुनसिंहजी वर्मा आसींद राज मेवाड़

५ श्रीमत् महाराज श्रीगजसिंहजी वर्म्मा उदयपुर मेवाड़

६ श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा मसूदा जिले अजमेर

७ रावबहादुर पं० सुन्दरलाल सुपरिंटेंडेंट वर्कशोप और प्रेस अलीगढ़ आगरा

८ राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० डिपुटी-कलेक्टर बिजनौर मुरादाबाद

६ बाबू दुर्गाप्रसाद कोषाध्यक्ष आर्य्यसमाज व रईस फ़र्रुखाबाद

१० लाला जगन्नाथप्रसाद रईस फ़र्रुखाबाद

११ सेठ निर्भयराम प्रधान आर्य्यसमाज फ़र्रुखाबाद बिसाऊ राजपूताना

१२ लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्य्यसमाज फ़र्रुखाबाद

१३ बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर

१४ लाला साईंदास मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर

१५ बाबू माधवदास मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर

१६ रावबहादुर रा० रा० पंडित गोपालराव हरि देशमुख मेम्बर कौन्सिल गवर्नर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना

१७ रावबहादुर रा० रा० महादेव गोविन्द रानडे जज्ज पूना

१८ पं० श्यामजीकृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर संस्कृत यूनीवर्सिटी आक्सफोर्ड लंडन बम्बई

नियम

१ उक्त सभा जैसे कि वर्त्तमानकाल वा आपत्काल में नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करे:—

प्रथम—वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने, पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में।

द्वितीय—वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमंडली नियत करके देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में।

तृतीय—आर्यावर्त्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे।

२ जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब किताब समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे, और वह सभासद् जाकर समस्त आयव्यय और संचय आदि की जांच पड़ताल करे, और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे, और उस विषय का एक २ पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे, और उसके प्रबन्ध में कुछ हानि लाभ देखे उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे। पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी २ सम्मति सभापति के पास लिख कर भेजदे, और सभापति सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे, और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे।

३ इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है उसको वैसा ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

४ मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय, अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार

सभा को है और रहे। यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय।

५ जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने कराने का भी अधिकार है। अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने, न जङ्गल में फेंकने दे, केवल चन्दन की चिता बनावे। और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पांच सेर कपूर, ढाई सेर अगर तगर और दश मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर, तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके, भस्म करे। इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे। और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो वही पूर्वोक्त क्रिया कर दे। और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे।

६ अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद को पृथक् कर के उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है। परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय।

७ मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या, वा उसके नियम और प्रतिज्ञाओं के पालन, वा किसी सभासद् के पृथक्, और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने, वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में वह उद्योग करे जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया वा पावे। और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने।

८ किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपरा की परीक्षा कर पृथक् न करसके जबतक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले।

९ यदि सभा में से कोई पुरुष मरजाय वा पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्याग कर विरुद्ध चलने लगे तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जबतक नित्यकार्य के अनन्तर नवीनकार्य का आरम्भ न हो ।

१० इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीनयुक्ति निकालने का अधिकार है । परन्तु जो सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा २ निश्चय और विश्वास न हो पत्रद्वारा समय नियत करके संपूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे ।

११ प्रबन्ध न्यूनाधिक करना वा स्वीकार वा अस्वीकार करना वा किसी सभासद को पृथक् वा नियत करना वा आय व्यय और संचय का जांच पड़-ताल करना आदि लाभ हानि सब सभासदों को वार्षिक वा षाण्मासिक पत्रद्वारा सभापति छपवा कर विदित करे ।

१२ इस स्वीकारपत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा टंटा सामायिक राज्याधिकारियों की कचहरी में निवेदन न किया जाय । यह सभा अपने आप न्यायव्यवस्था करले । परन्तु जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो तो राज्यगृह में निवेदन करके अपना कार्य सिद्ध करले ।

१३ यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य्यजन को पारितोषिक अर्थात् पेनशन देना चाहूं और उसकी लिखत पढ़त कराके रजिस्टरी करादूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे ।

१४ किसी विशेष लाभ उन्नति परोपकार और सर्वहितकारी कार्य के वश मुझे और मेरे पीछे सभा को पूर्वोक्त नियमों के न्यूनाधिक करने का सर्वथा सदैव अधिकार है ।

ह० दयानन्दसरस्वती,

ओ३म्

# आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

## Book Post.

To,

पं० भगवद्दत्त जी वेदालंकार

अध्यक्ष डी०ए०वी० अनु० विभाग

Post. लाहौर

( Dist. )

From—Swadhyaya Mandal, AUNDH (Dist. Satara)

क्योंकि भोगी मनुष्य यही समझकर भोग करता है, कि विषय में कोई दुःख नहीं है। परन्तु जब भोगी मनुष्य भोग के परिणाम को अपनी अभिलाषा के अनुसार नहीं पाता, तब उस परिणाम से द्वेष करता है। भोगी भोग से द्वेष करे, यह कभी सम्भव नहीं है। 'परिणाम द्वेष' को 'भोगद्वेष' मानना भूल है। इस प्रकार के अवांछित परिणामों से बचने के प्रयत्न करना ही 'साधन' कहाता है और ऐसे प्रयत्न करने वाले 'साधक' कहे जाते हैं।

इस प्रकार का 'साधन' निश्चय ही अज्ञान की स्थिति हैं। कारण यह है कि भोगी पुरुष 'संयम' को अन्ततक नहीं निभा सकता। भोगी तीन काल में भी संयमी नहीं हो सकता। संयम केवल ज्ञानी कर सकता है। वह इसलिए कर सकता है कि 'संयम' करना उसका स्वभाव है। ज्ञानी का संयम किसी प्रयत्न का फल नहीं है। 'संयम' ज्ञानी का अत्याज्य स्वभाव है। 'ज्ञानी का संयम' क्रियासाध्य नहीं है।



प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञानी का 'संयम' उसका

पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अङ्कित है। इस तिथि सहित १५ वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ नये पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।